



जलवायु परिवर्तन का ज़मीनी चेहरा

(मध्यप्रदेश की धरती आग क्यों उगल रही है - एक पड़ताल)

सचिन कुमार जैन



समर्पण

यह पुस्तक समर्पित है
प्रिय बाबा आमटे
के व्यक्तित्व, विचारों और
संघर्ष को

शीर्षक	:	जलवायु परिवर्तन का जमीनी चेहरा (Jalvaayu parivartan ka jameeni chehra)
लेखन	:	सचिन कुमार जैन
प्रकाशक	:	विकास संवाद ई-7/226, प्रथम तल धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने अरेरा कॉलोनी, भोपाल (मध्य प्रदेश)
फोन/फैक्स	:	0755 - 4252789
ई-मेल	:	vikassamvad@gmail.com
वेबसाइट	:	www.mediaforrights.org
संस्करण	:	प्रथम / 2010
संपादन	:	मणिमाला
आवरण	:	अमित सक्सेना
मुद्रक	:	एमएसपी ऑफसेट, भोपाल

विशेष – हम यह देख रहे हैं कि जलवायु परिवर्तन का असर गांव, गांव की जमीन, संसाधनों और व्यक्तियों पर अब गहराता जा रहा है। हमने महसूस किया कि जलवायु परिवर्तन को अपने आस-पास के वातावरण और हर रोज के मसलों के साथ जोड़कर परिभाषित किये जाने की जरूरत है। इसी जरूरत पर काम करते हुये **संयुक्त राष्ट्र सहस्राब्दि विकास अभियान के सहयोग से विकास संवाद (मध्यप्रदेश)** ने यह पुस्तक तैयार की है। मकसद है कि भुखमरी, गरीबी और स्थाई विकास को जलवायु परिवर्तन के साथ जोड़कर देखना और इस विश्लेषण को व्यापक मंचों पर लाना।

भीतर के पन्नों पर

►	शुरु करने के पहले	अ - स
1.	करोड़ों लोगों के पेट का सवाल है !	1 - 4
2.	चिता में तब्दील होती धरती !	5 - 13
	• घातक होती वाहनों की भीड़ !	8
	• यूँ ही बेवफ़ा नही हुई खेती !	10
	• कौन उगल रहा है आग?	10
	• किसने बिगाड़ा मौसम के मिजाज को?	11
3.	कृषि संस्कृति और अन्न असुरक्षा	14 - 32
	• भूख के साथ जीने वाला राज्य : मध्यप्रदेश	14
	• कृषि संस्कृति से जुड़े सवाल	17
	• अस्तित्व ही दांव पर है !	19
	• साजिशों से जूझता किसान	21
	• रासायनिक कीटनाशक	24
	• ...और अब जी एम खाद्यान्न	27
	• बीटी बैंगन आ रहा है	28
	• जी एम खाद्यान्न को अनुमति के मतलब	30
4.	बुंदेलखंड में सूखा	33 - 45
	• काश ! बुंदेलखंड खुद को गढ़ पाता ।	36
	• बीहड़ बनता बुन्देलखण्ड	37
	• बदहाली का नाम पलायन !	38
	• गांव-घर पीछे छूट गये...	43
	• ...और शहर कभी अपना न हुआ !	45
5.	ठहरा हुआ एक मौसम : चुनौतियों का !	46 - 59
	• कभी देर तो कभी सबेर कर दी बारिश ने आते-आते...	46
	• गर्मी ने निचोड़ ली पान की लाली...	48

• सूखे ने सुखा दिया सब्जियों को	51
• सूख गये संतरों के बागीचे	53
• बच्चों के मुंह से भी छीना निवाला	53
• रिक्शा खींचने लगा किसान	54
• पशुधन भी संकट में	54
• अकाल के जाल में मछली और मछुआरे	56
6. बुंदेलखंड के खेतों में भूख उपज रही है!	60 - 62
7. जीने की कला सिखाता 'पातालकोट'	63 - 68
• विकास के पेंच	67
8. जंगल है तो जीवन है	69 - 78
• और शुरू हुई जंगल जीवन की लड़ाई	71
• गांव-समाज ने बनाया अपना वन कानून	72
• ज्ञान का सजग संसार हैं ये जंगल	75
• यह तो कुदरत की सम्पत्ति है	75
• सेहत भी गई	77

शुरु करने के पहले...

जलवायु परिवर्तन की गर्मी को काफी पहले से महसूस किया जा रहा है। 1972 में रियोडिजेनेरो में हुये विश्व पृथ्वी सम्मेलन के बाद क्योटो और बाली होते हुये हमारी सरकारें कोपेनहेगन तक पहुंच गई हैं। इन 37 सालों की कवायद के बाद भी कार्बन और मिथेन जैसी खतरनाक गैसों का उत्सर्जन लगातार बढ़ रहा है। मालदीव समुद्र के भीतर और नेपाल हिमालय के तल में बैठकर अपने वजूद का रोना रो रहा है और विकासशील देश विकास के नाम पर कुदरत पर हमले जारी रखे हुए हैं। जलवायु परिवर्तन पर पहला वैश्विक समझौता सन् 1997 में जापान के क्योटो शहर में हुआ था पर अमेरिका जैसे देशों की जिद के कारण यह 16 फारवरी 2005 को लागू हो पाया। इस प्रोटोकाल की अवधि सन् 2012 में खत्म हो रही है। अब कोपेनहेगन में एक सर्वमान्य समझौते की जरूरत थी, पर यह हो नहीं पाया। यदि ऐसा नहीं हुआ तो कुछ सालों में मालदीव जैसे तटवर्ती देश बढ़ते जल स्तर, पिघलते ग्लेशियरों के कारण समुद्र में डूब जायेंगे।

सन् 1989 में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस सवाल पर समझौते की आधारशिला रखी गई थी। सन् 2009 तक आते-आते जलवायु परिवर्तन का यह सवाल हर जिन्दगी का सवाल बन गया और वैश्विक आर्थिक राजनीति का केन्द्रीय रणक्षेत्र भी। सैद्धान्तिक तौर पर यह माना जाता है कि कार्बन डाई आक्साईड, मिथेन और इसके जैसी अन्य गैसों, जिन्हें ग्रीन हाउस गैस कहा जाता है, के बहुत ज्यादा पैदा (उत्सर्जन) होने के कारण वैश्विक और स्थानीय जलवायु के चक्र और चरित्र में परिवर्तन आता है। इसी वजह से कहीं खूब गर्मी पड़ रही है तो कहीं बाढ़ आ रही है और कहीं सूखा बार-बार पड़ रहा है। इस परिवर्तन से आजीविका, स्वास्थ्य, पर्यावरण के ही नहीं बल्कि दुनिया के अस्तित्व पर भी सवाल खड़े हो रहे हैं। दुनिया भर की सरकारें अब इस संकट के दबाव में हैं। जलवायु परिवर्तन का सबसे मूल कारण हमारे विकास का ढांचा और परिभाषा है। जिस तरह के पूंजीवादी केन्द्रीयकृत पर्यावरणविरोधी औद्योगिकीकरण और आर्थिक विकास की नीतियों को दुनिया की सरकारें प्रोत्साहन देती रही हैं उसी से ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ा और जलवायु परिवर्तन की चुनौती ने विकराल रूप लिया। किसी भी तरह से इन गैसों के उत्पादन को कम करना ही इसका हल है। क्योटो प्रोटोकाल के तहत यह तय किया गया था कि पूरी दुनिया में दो तरह के देश हैं जो इन गैसों का ज्यादा उत्पादन करते हैं। उन्हें विकास की अपनी नीतियों को बदलकर ग्रीन हाउस गैसों की वृद्धि को रोककर 20 साल पहले के स्तर पर लाना चाहिये। पर ऐसा हुआ नहीं। इन देशों ने अपने गैसों के कारखाने बनाये रखे और इन गैसों की मात्रा में 14 फीसदी की बढ़ोतरी हो गई। दूसरे तरह के वे विकासशील देश हैं, जो गैस का कम उत्सर्जन कर रहे हैं। उन्हें अपने विकास का अधिकार मिलना चाहिये; यानि जलवायु परिवर्तन के नाम पर विकासशील देशों को पिछड़ा बने रहने का अभिशाप नहीं भोगना चाहिये। यह तय हुआ कि ऐसे देशों के विकास के लिये विकसित देश मदद भी करेंगे। इसके लिए सरकारों को अपनी ऐसी नीतियों और योजनाओं को बदलना होगा जो 'औद्योगिक विकास' के साथ ही जलवायु परिवर्तन का कारण भी हैं। ज्यादातर देश इस

मामले पर ईमानदार नहीं रहे। अब दिसंबर 2009 में कोपेनहेगन में फिर लोग इकट्ठा हुये। यह क्योटो के बाद दूसरी बड़ी बैठक थी, जिसमें विकासशील देशों पर दबाव बनाया गया और अमेरिका सरीखे देश अपनी नीतियां बदलने को तैयार न हुये।

कोपेनहेगन तक आते-आते दोनों तरह के देशों को एक ही सूची में रख दिया गया। अब दबाव बनाया जा रहा है कि अमेरिका (जो दुनिया की 22 प्रतिशत गैस पैदा करता है) और भारत (जो दुनिया की 4 प्रतिशत गैस पैदा करता है) बराबरी से इन गैसों के उत्सर्जन में कमी लायें। कई सालों तक भारत ने यह नीति अपनाई हम अपने विकास के अधिकार पर समझौता नहीं करेंगे और दूसरे देशों के अपराधों की सजा भी नहीं भुगतेंगे। भारत चाहता था कि विकसित देश अपनी नीतियां और विकास का तरीका बदलें। पर भारत पर खूब दबाव पड़ता रहा कि वह भी कार्बन गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने का वायदा करे। अंततः कोपेनहेगन की बैठक के ठीक पहले भारत को यह मानना पड़ा कि वह सन् 2020 तक कार्बन गैसों के उत्सर्जन में 25 प्रतिशत की कटौती लाने का प्रयास करेगा; पर वह कानूनी रूप से बाध्य नहीं होगा। हालाँकि यह दबाव में लिया गया निर्णय है किन्तु जवाबदेहिता के नजरिये से शायद सही निर्णय भी है। अब भारत जैसे देशों को यह करना होगा कि दुनिया के विकसित देश भी इस जवाबदेहिता को समझें। इसके लिये दबाव की राजनीति की दिशा को पलटना होगा। सचचई तो यह है कि इसके लिये विकास की परिभाषा और प्राथमिकताओं पर नये सिरे से सोचना होगा।

आईपीसीसी के अध्यक्ष आर.के. पचौरी कहते हैं कि हमारे खान-पान की बदलती संस्कृति ने भी जलवायु परिवर्तन में बड़ी भूमिका निभाई है। मांस के उपभोग को इसमें शामिल माना जाये। एक किलो मक्का के उत्पादन में 900 लीटर पानी लगता है परन्तु भैंस के 1 किलो मांस के उत्पादन में 15,500 लीटर पानी की जरूरत होती है। पशुधन को अब मांस के नजरिये से ज्यादा और कृषि पर्यावरण और आजीविका के नजरिये से कम देखा जाता है। दुनियाभर के अनाज उत्पादन का एक तिहाई का उपयोग मांस के लिये जानवर पालने में होता है। एक व्यक्ति एक हेक्टेयर खेती की जमीन से सब्जियां, फल और अनाज उगाकर 30 लोगों के लिये भोजन की व्यवस्था कर सकता है किन्तु अगर इसी का उपयोग अण्डे, मांस, जानवर के लिये किया जाता है तो केवल 5 से 10 लोगों का ही पेट भर सकेगा। 1 किलो पोल्ट्री मांस के उत्पादन के लिये 2.1 से 3 किलो खाद्यान्न का उपयोग होता है। साफ है कि नीतियों के साथ-साथ व्यवहारों में भी बदलाव अब एक अनिवार्यता बन चुका है। पर जीवन शैली में बदलाव की जरूरत अब भी छिपाई जा रही है, हालाँकि इन्टर गवर्नमेंटल पैनल आन क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) की चौथी आकलन रिपोर्ट यह साफ तौर पर उल्लेखित करती है कि दुनिया के लोगों को अपनी जीवनशैली में भी बदलाव करना होगा। विलासिता और आराम तलबी को ही जीवन समझ बैठे इस समाज को यह समझाना बहुत ही कठिन होगा शायद समस्या का हल नामुमकिन होने तक हमारा समाज करवट ही न बदले। महंगाई और उत्पादन में कमी ने भुखमरी को व्यवस्था की स्थाई समस्या बना दिया है। इसके पीछे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा नियंत्रित होती उत्पादन

की बाजार केन्द्रित व्यावसायिकता धिनौना खेल खेल रही है, इस राजनीति को समझना होगा।

भारत सरकार ने तय कर लिया है कि वह कार्बन उत्सर्जन में सन् 2020 तक 25 प्रतिशत और 2037 तक 37 प्रतिशत कटौती करेगी। भारत के पर्यावरण मंत्री ने भारत की संसद को सूचित किया कि हम कोपेनहेगन में अपने इन लक्ष्यों को सामने रखेंगे परन्तु संसद में इस पर कोई बहस नहीं हुई। जन प्रतिनिधियों को खुलकर जलवायु परिवर्तन और कोपेनहेगन की राजनीति के बारे में नहीं बताया गया। इसका नतीजा यह होगा कि जब इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिये सरकार नीतियां और व्यवस्था बनायेगी तब उसे देश के भीतर राजनैतिक—सामाजिक और आर्थिक सहयोग नहीं मिलेगा। केवल लक्ष्य तय करने से दायित्व पूरा नहीं होता। सरकार को बताना पड़ेगा कि कार्बन गैसों के उत्सर्जन में इतनी कमी कौन से उद्योगों, कार्यशालाओं और क्षेत्रों से की जायेगी?

संकट बहुत बड़ा और गहरा है। इस पर बहुत से सिद्धान्त और अध्ययन भी हैं। खूब लिखा और पढ़ा गया है। फिर भी जमीनी सच अछूता ही रहा है। यह सभी मानते हैं कि इससे समाज और जीवन का हर हिस्सा प्रभावित है। पूरी दिनचर्या का पल-पल इसके प्रभाव क्षेत्र में हैं। हमें लगा कि जलवायु परिवर्तन के जमीनी चेहरे को जमीन पर बैठ कर पढ़ने की जरूरत है। सिर्फ जानने—समझने की नहीं, अहसास करने की भी जरूरत है कि बाढ़ अकेली बाढ़ नहीं है, सूखा अकेला सूखा नहीं है; यह जलवायु परिवर्तन का गहरा परिणाम है और जीवन के लिये उससे भी गहरी चुनौती। बुंदेलखण्ड में स्थानीय स्वैच्छिक संगठनों के साथ गांवों, खेतों में टहलते और लोगों से बात करते हुये हमें जो दिखा हमने उसे शब्दों में बांधने की कोशिश की। इस कोशिश को मूर्त रूप देने में परहित, आभार महिला समिति, बुंदेलखण्ड जनोत्थान समिति और बुंदेलखण्ड आपदा निवारण मंच ने अहम भूमिका निभाई। शुभेंदु, प्रमोद, अनिल गुलाटी, रोली, प्रशांत, राजू, अनिल निम्भोरकर, बलवंत और स्मृति के साथ, जयंत, नरेन्द्र और सौरभ के हम शुक्रगुजार हैं। यह एक बहुत शुरुआती पहलकदमी है, हम इसे आगे लेकर जाना चाहेंगे; क्या आप और सहयोग करेंगे? यह शब्द साधना नहीं, समाज साधने की एक पहलकदमी भर है।

• सचिन कुमार जैन

न तो सूरज ने कम की है अपनी गर्मी
न बादलों ने बेच दिया अपना पानी
हवा भी अपनी चाल से चलती है
मौसम नहीं हुआ है बेवफा,
पर बदल दी है तुम्हारी जिन्दगी
तुम्हारी ही राजनीति ने
और तोड़ दिया है भरोसे का चक्र !

करोड़ों लोगों के पेट का सवाल है !

नकारात्मक मुद्रास्फीति के दौर में भी सब्जी-दाल, चावल-गेहूं, दूध-फल जैसी जरूरी चीजों के दाम आकाश छू रहे हैं। देश के प्रधानमंत्री कहते हैं कि विकास की रफ्तार तेज होती है तो ऐसा ही होता है क्योंकि लोगों की तनखाह बढ़ती है, कमाई बढ़ती है, पचैजिंग पावर बढ़ती है। बीच-बीच में देश और राज्य की सरकारें शहरों में सस्ते आलू, प्याज और दालें बेचने का नाटक रचती हैं और गांवों में गरीबों को रोजगार के साथ सस्ते अनाज देने का दम्भ भी भरती हैं। कोई मंत्री डराता है कि आने वाले दिनों में चावल-चीनी और महँगे होने जा रहे हैं, तो कोई दिलासा देता है कि जरूरी मात्रा में ये चीजें वक्त रहते आयात कर ली जाएंगी। कीमत न बढ़े इसलिए आयात शुल्क की माफी दी जाएगी। शहरों का खाता पीता वर्ग आश्वस्त हो लेता है। वह केवल उपभोक्ता है। उसे इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि खाने पीने की ये चीजें देश के किसान उगा रहे हैं या विदेश से मंगाया जा रहा है। विदेश से आ रहा है तो और भी अच्छा। उन्हें विदेश का हर माल अच्छा लगता है। आयात-निर्यात में लगे व्यवसायियों को कमाने का एक और मौका मिलेगा। जो खाकर डकारने की स्थिति में नहीं हैं लेकिन खेती किसानों के संकट से अनभिज्ञ हैं। वे सोचते हैं कि कुछ दिनों की ही बात है फसल अच्छी होगी तो कीमतें घटेंगी। उन्हें नहीं मालूम की आम जन के इस्तेमाल की ये चीजें अब कभी सस्ती नहीं होंगी, न ही अपने प्राकृतिक रूप में बिना छेड़छाड़ के मिल पायेंगी। बीटी तकनीक अब कपास तक ही सीमित नहीं रहा, बैंगन, आलू, चावल हर खाद्यान्न में शामिल हैं।

जलवायु परिवर्तन ने जमीनी स्तर पर सबसे ज्यादा प्रभावित किया है प्राकृतिक व्यवस्था के साथ जीने वाले सीधे-सादे मेहनतकश तबके को। इसमें खेती करने वाले किसान, पशुपालक, मछुआरे-मल्लाह सहित वे तमाम दलित, आदिवासी व बाकी लोग शामिल हैं जो प्रकृति के साथ तालमेल बिठाकर, अपनी जरूरतों को सीमित रखते हुए संयमी और आनन्दमय जीवन जीते रहे हैं। खेती किसानों करने वालों के पांव के नीचे की जमीन दरक गई तो मछुआरों के तालाब सूख गये। पशुपालकों के

पशु चारा-पानी न मिलने से बिलबिलाने लगे और उनसे देखा नहीं गया तो वे खुद ही उन्हें खोल-खोल कर बेलाने लगे। पूरे देश में यही हाल है। मध्यप्रदेश तो सबसे भूखा प्रदेश बन गया है। और उसका बुन्देलखण्ड तो अब खण्ड-खण्ड होने की स्थिति में है। इसीलिए महंगाई अब कभी कम नहीं होगी। किसान तो अपने-अपने गांव छोड़कर नगरों और महानगरों की खाक छान रहे हैं दो जून की रोटी की तलाश में। कोई बोझा ढो रहा है तो कोई सड़क बुहार रहा है, कोई कचरा जमा कर रहा है तो कोई रिक्शा खींच रहा है, कोई बर्तन धो रहा है, कहीं-कहीं तो कोई कुछ न मिलने पर आत्महत्या कर रहा है या फिर मौत का इंतजार। जब खेती किसानों ही नहीं रहेगी, तो फसल कहां और कैसे उगेगी। फसलें नहीं होंगी तो अनाज कैसे पैदा होगा? किसान जितना बदहाल होगा पैदावार उतनी ही कम होगी। देश की सवा सौ करोड़ की आबादी के लिए अनाज लेबोरेटरी या कारखाने में पैदा नहीं किया जा सकता। हालाँकि पैदावार बढ़ाने के नाम पर ढेर सारे नए तकनीक, मशीन और रसायन किसानों पर थोपे जा रहे हैं-रासायनिक खाद से लेकर जीनान्तरित बीज तक, ट्रैक्टर से लेकर थ्रेशर तक। रसायनों ने धीरे-धीरे धरती को अपना ऐसा गुलाम बनाया कि इसके बिना वह कुछ देने में ही अक्षम हो गई। किसान का खर्च बढ़ा और खाद बनाने वाली कंपनियों का मुनाफा। नित आ रही नई मशीनों ने मजदूरों की मजदूरी छीनी तो गांवों में मजदूर-किसानों के परस्पर अवलम्बन की व्यवस्था की बुनियाद ही हिल गई। दोनों एक दूसरे का सहारा थे, जो अब अनजान हो गये। कुछ लेना-देना न रहा। आपस के रिश्ते कमजोर हुए तो पूरा का पूरा गांव ही कमजोर हो गया। मुनाफाखोर कंपनियों, पूंजीपतियों की दलाल सरकारों और जलवायु परिवर्तन के सामने हमारा अन्नदाता याचक बनकर रह गया। सोयाबीन जैसे मुनाफाखोर अनाजों ने भी किसानों को और कमजोर बना दिया और धरती को व्यवसाय का साधन। किसान व्यवसायी बन गया तो धरती भी मां नहीं रही। उसका आंचल भी सूख गया। फिर कैसे मिले हमें हमारी औकात वाली कीमत में अनाज!

खा-पीकर अघाये लोगों पर तो यह महंगाई कोई असर नहीं डालती। बड़े पूंजीपतियों के लिए यह विकास का अवसर है। मौका है रोजगार बढ़ाने का, पांव फैलाने का। सिंगूर, नंदीग्राम, काशीपुर, नियमागिरी, काठीकुंड सहित देश के कई हिस्सों में किसान अपनी जमीन पर अपनी जान का दांव लगाए बैठे हैं। जान देंगे, पर जमीन नहीं के जज्बे के बीच सरकारों के लिए पूंजीपतियों की दलाली करने में मुश्किलें आने लगी हैं। किसानों की जान जमीन में बसती है तो पशुपालकों की अपने मवेशियों में, मछुआरों की जिंदगी मछलियां ही होती हैं। अब ये सब खत्म हो रही हैं। मौसम का मिजाज बदला तो बारिश गायब हो गई और धूप तेज। इतनी तेज कि खेत, तालाब, नदियां, पेड़, पशु, पक्षी सब सूखने लगे। बुंदेलखंड में तो काफी हद तक सूख चुके हैं। मौसम का मिजाज अपने आप नहीं बदला। धरती की कोख भी खुद नहीं सूखी। मछलियां भी अपनी मौत नहीं मरीं। धरती को ऐसा

निचोड़ा गया कि वह सूख कर बीहड़ बनने लगी। ऐसे में ताल-तलैयाँ कैसे जिन्दा रह पाते? नदी-तालाब नहीं बचे तो पशु-पक्षी और मछलियाँ कहाँ जाएँ। मछुआरे और मल्लाह क्या करें। आम लोगों की अकल, अहमियत और मेहनत पर टिकी देश की पूरी अर्थ व्यवस्था खत्म करने की साजिश चल रही है। किसान एक साजिश को समझता है तब तक दूसरा पांसा फेंक दिया जाता है। ऐसी नीतियाँ बनाई जाती हैं कि खेती किसानों की आत्महत्या का कारण बन जाए और किसान खुद ही खेती से हार मान ले। रासायनिक खाद से लेकर तकनीकी बीज तक की यात्रा वास्तव में स्वावलम्बित खेती से परावलम्बन के रास्ते होती हुई बर्बादी की यात्रा रही है। बेमौसम बारिश ने कभी फसलें गला दी तो कभी बेवक्त की धूप ने उन्हें सुखा दिया। बुंदेलखंड में पान की खेती करने वाले किसानों के खेतों में पान की बेलें क्या सूखीं, इनके पास अब सूखने के लिए भी कुछ नहीं रहा। सरकारें, पूंजीपतियों, मुनाफाखोर कंपनियों और नई तकनीकों ने जलवायु को ही बदल दिया। वाहनों ने इतना धुआँ छोड़ा कि वातावरण उसे जज्ब ही न कर सका। ताप और तापमान बढ़ता ही चला जा रहा है। इसमें गाड़ियाँ तो भाग सकती हैं पर फसलें, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी नहीं पल-बढ़ सकते। जलवायु परिवर्तन का मारा किसान आज न आकाश को पढ़ पा रहा है न धरती को। एक वक्त था जब बुंदेलखंड के पान उगाने वाले किसान सूरज की रोशनी में हाथ और धरती पर पांव रखकर वातावरण का तापमान बता दिया करते थे। अब बादल देख फसल तो बो देते हैं कि पानी बरसेगा पर वह बिना बरसे ही चल देता है। पान लगाते हैं तो तापमान ठीक-ठीक होता है। बढ़ने का वक्त आता है तो तापमान इतना बढ़ जाता है कि पौधे झेल ही न सकें। अब ये पौधे किसी वातानुकूलित दफ्तर में तो नहीं बोये जा सकते कि बटन दबाया और मन मुताबिक ठंडी-गर्मी ले ली। बड़ी-बड़ी कम्पनियों वाले तो सड़क पर भी चलते हैं तो ए.सी. कार में जहाँ ताप उनकी आज्ञा का इन्तजार करती होती है। गर्मी लगी तो बटन दबाया और ठंडे हो लिए, ठंड लगी तो गर्म हो लिए। इन्होंने अपने वातावरण के ताप को अपने ही नियंत्रण में रखा है। जब ये अपने लिए ठंड पैदा करते हैं तो औरों के लिए वातावरण में गर्मी छोड़ते हैं। ए.सी. का पिछवाड़ा उतनी ही गर्म हवा फेंकता है जितना इन्हें ठंडक पहुंचाता है।

बुंदेलखंड के मझौरा गांव की महिलाओं को गांव के पास सवा तीन सौ फिट पहाड़ी के नीचे उतरकर एक कुण्ड में पानी लेने जाना पड़ता है। इस कुण्ड में बस इतना ही पानी रहता है कि साल भर में 10 माह छोटे बर्तन या कटोरी से भर-भरकर वे पानी इकट्ठा करते हैं। पानी भी ऐसा कि हजारों की संख्या में छोटे-छोटे कीड़े तैरते हुए नंगी आंखों से देखे जा सकते हैं। मझौरा के लोग भी देखते हैं और कीड़े देखकर भी उसी पानी को पीते भी हैं। करें भी तो क्या करें। जुलाई 2009 में इस पानी को पीने से हैजा फैला। सोमवती की हैजे से मौत हुई, 48 लोग अस्पताल तक पहुंचे, अब भी 6 लोग बीमार हैं। यहां नरेगा के तहत केवल एक कुआँ खोदा गया है, जिसमें बारिश में कुछ दिन पानी रहता है। वह भी पीने लायक नहीं है। बताया

जाता है कि यहां तीन साल में 40 लाख रुपये खर्च हुए पर पीने को पानी नहीं मिला। गौरीशंकर यादव कहते हैं इस भारी विपदा के वक्त भी सरकार साथ नहीं दे रही। आज गांव का हर छोटा-बड़ा किसान भी रोजगार चाहता है। कई मर्तबा मांगा भी पर काम न मिला। 'हम तो आजीविका के खुद के साधन चाहते हैं, इसलिये खेती पर खूब जोर मारते हैं' मझौरा का हर निवासी यही कहता है। इसी गांव के बिंद्रावन ने अपनी 4 एकड़ जमीन के लिये 3500 रुपये के बीज, 2400 रुपये के कीटनाशक और 3500 रुपये के उर्वरक उधारी में लिये थे। एक रुपये का उधार लेने का मतलब है 2 रुपये चुकाना। इन तीन महीनों में न तो खेत उगे, न दूसरे विकल्प से आय हुई। इस तरह का असर मध्यप्रदेश के पूरे उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन का सीधा असर देखा और महसूस किया जा सकता है। जलवायु परिवर्तन ने यहां कृषि आधारित आजीविका और खाद्यान्न उत्पादन पर खासा असर डाला है। मध्यप्रदेश के उत्तर-पूर्वी जिलों में पिछले 9 सालों में खाद्यान्न उत्पादन में 58 फीसदी की कमी दर्ज की गई है। पिछले चार-पांच सालों में बेहद कम पानी बरसने या कई क्षेत्रों में सूखा पड़ने के चलते इस क्षेत्र के तकरीबन सभी कुएं सूख चुके हैं। यहां पिछले आठ सालों में मानसून की अवधि साल में 52 दिन से घटकर अब महज 24 दिन की रह गई है।

न तो मझौरा अकेला गांव है न बुंदेलखंड अकेला इलाका और ना ही मध्यप्रदेश अकेला प्रदेश है इस देश का, जहां जलवायु परिवर्तन के मारे चेहरे इतने मायूस हैं, इतने निराश और खामोश हैं कि जीवन की हलचल तलाशने पर भी नहीं मिलती है। अगर मिलती भी है तो कभी किसी भीगी आंखों में, सूनी नजरों में, बढ़ते जा रहे पलायन में, भूख में, भुखमरी में और कभी-कभी आत्महत्या में भी। तेज रफ्तार विकास के इस दौर में ऐसी ही तरवीर उभर रही है भारत की; बदहाल और भूख से आहत। कुछेक अम्बानी, मित्तल, जिंदल, टाटा, अजीज प्रेमजी, दुनिया के सबसे बड़े धनकुबेरों में शामिल हो देश का नाम रोशन करते रहेंगे पर बाकी देश दाने-दाने को तरस उठेगा। ये धनकुबेर करोड़ दो करोड़ लोगों को करोड़पति-अरबपति-खरबपति भी बना देंगे ताकि वे इनका झंडा उठा सकें, पर बाकी का क्या? सवाल सवा सौ करोड़ के पेट का है।

●●●

चिता में तब्दील होती धरती !

बताया जा रहा है कि आने वाले 30 से 40 वर्षों में पृथ्वी का तापमान 2 डिग्री तक बढ़ जाएगा। साथ ही जिस वातावरण में हम रहते हैं, उसमें 3 से 4 डिग्री की बढ़ोतरी हो जायेगी। यानी आज जो तापमान 44 से 45 डिग्री है वह 47 से 49 डिग्री तक पहुंच जायेगा। जलवायु परिवर्तन का मतलब केवल यह नहीं है कि गर्मी बढ़ेगी, बल्कि इसका मतलब यह भी है कि जिस मौसम में जो होना चाहिये वह नहीं होगा। शीत ऋतु में ठण्ड पड़नी चाहिये, हो सकता है कि ठण्ड न पड़े। हमारा किसान सोचता है कि दिसम्बर-जनवरी के दरम्यान मावठा गिरे, पर पिछले दिनों मावठा गिरने की व्यवस्था में बड़े परिवर्तन देखे गये हैं। बेतहाशा गर्मी में बे-मौसम बरसात होती है तो शहर में रहने वाले मध्यमवर्गीय लोग सोचते हैं कि चलो, गर्मी से थोड़ी राहत मिली। पर वे यह नहीं सोचते कि यह गर्मी बेतहाशा बढ़ क्यों रही है? मेरे घर के फ्रिज, ए.सी., चार पहिया वाहन, जंगलों की कटाई, भूमि का कांक्रिटीकरण, मिट्टी के बह जाने जैसी स्थितियों की इसमें क्या भूमिका है? हमारी सरकारों की जन-विरोधी पूंजी समर्थक नीतियाँ जलवायु परिवर्तन को और प्रोत्साहन दे रही हैं। एक तरफ तो क्लाइमेट चेंज एक्शन प्लान बनाया जा रहा है तो वहीं दूसरी तरफ वनों के विनाश और प्राकृतिक सम्पदाओं को खत्म कर देने वाले उद्योगों को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

जलवायु परिवर्तन का मतलब है पर्यावरण के चक्र, उसकी व्यवस्था और हरकतों में अस्वाभाविक परिवर्तन होना। जलवायु परिवर्तन कई सभ्यताओं के खत्म हो जाने का बड़ा कारण रहा है। हड़प्पा, हितितीस और प्राचीन इजिप्ट की सभ्यताओं के खत्म होने का एक बड़ा कारण पर्यावरणीय बदलाव था। एक बार फिर यह बदलाव मानव सभ्यता के लिये संकट बन कर उभर रहा है। मौसम के चरित्र में परिवर्तन से मलेरिया, तपेदिक, कालरा और कैंसर के मामलों में खूब वृद्धि हुई है।

देश में विकास के नाम पर सड़कें बनाने और अधोसंरचनात्मक विस्तार का काम तेजी से हो रहा है। अस्थायी विकास की इस रफ्तार पर कोई बहस नहीं है। इस

आधुनिक विकास का एक सूत्रीय फार्मूला है, आर्थिक विकास यानी आय में बढ़ोतरी। खूब कमाई। खूब मुनाफा। कमाई...खूब कमाई...और कमाई की अंधी दौड़ में शामिल लगभग 100 खरबपति और उनकी 1 करोड़ लोगों की सेना अधिक से अधिक उपभोग, मुनाफा, और कमाई को पैमाना मानकर ही विकास का ध्वज लिए आगे बढ़ रही है। यह सेना इतनी आगे बढ़ चुकी है कि इनके लिए पर्यावरण, परम्पराएं, समानता, एकता और भाईचारे जैसे इन्सानी उसूल पिछड़ेपन की निशानी बन गए हैं। इन एक करोड़ लोगों के डी-मेट एकाउण्ट है, यानी वह खाता जिससे शेयर बाजार का व्यापार किया जाता है। सिद्धान्त है कि जब आय बढ़ेगी तो लोग खर्च करेंगे। वे खर्च कहां करेंगे ये विज्ञापन और बाजार के मनोविज्ञान के विशेषज्ञ मिलकर तय करते हैं। वे बताते हैं कि कौन से पेन से लिखेंगे, कौन सा दंत मंजन उपयोग में लायेंगे, कौन सा वातानुकूलन यंत्र और प्रशीतक यंत्र (फ्रिज) अपने घर में रखेंगे और फिर कौन सा चार पहिया वाहन उनकी शान का हिस्सा होगा।

मध्यभारत में मानसून का समय आम तौर पर 1 जून से 24 सितम्बर के बीच माना जाता है। वर्ष 2009 में मध्यप्रदेश के 50 जिलों में से 39 जिलों में सूखे का प्रभाव देखते हुए 190 तहसीलों को सूखाग्रस्त घोषित करना पड़ा। इन तहसीलों में से किसी में औसत से 15 प्रतिशत कम पानी गिरा तो किन्हीं में 70 प्रतिशत तक कम बारिश हुई। यह खरीफ की खेती का मौसम होता है जिसमें कपास, मक्का, धान, ज्वार जैसी फसलें बोई जाती हैं। इस साल मानसून के समय में बारिश कम हुई और हुई भी तो सितम्बर महीने के कुछ दिनों में, तब तक फसल लगभग मर चुकी थी। 24 सितम्बर 2009 के बाद से 15 अक्टूबर तक और फिर नवम्बर 2009 में लगभग 20 दिन प्रदेश में बारिश हुई। यह समय बारिश का माना ही नहीं जाता है। मौसम ने बे-मौसम ही करवट लेना शुरू कर दिया। नवम्बर में हुई बारिश ने रबी की खेती (जिसमें ज्यादातर अनाज की पैदावार होती है) की तैयारियों का कबाड़ा कर दिया।

मानसून में बारिश की खेंच (खेंच यानी बारिश में देरी होने) के कारण जब मालवा की ब्यावरा तहसील में फसलें झुलस कर सूखने लगीं तो समाज ने अपनी कोशिशें शुरू की। ये कोशिशें थी इंद्रदेव (बारिश के भगवान) को मनाने की। पहले समाज पर्यावरण, पानी, खेती और जमीन के लिये अपने विज्ञान का उपयोग करता था। वह बारिश और सूखे का पूर्वानुमान लगा पाने में सक्षम था; जिससे संकट का सामना करने की तैयारियाँ पहले से ही शुरू हो जाती थी। वह भगवान से मदद मांगता था अपनी कोशिशों को सफल करने के लिए; परन्तु अब तो कोई कोशिशें होती नहीं है, बस मन्तते मांगी जाती हैं। राजगढ़ जिले की प्रमुख कुरावर मण्डी में शनिवार को तय किया गया कि अब देवों को नगर पलायन करके मनाया जायेगा; यानी देवता को बताया जायेगा कि अब सूखे के कारण हमें घर छोड़ना पड़ रहा है, अब तो बारिश बरसाओ। यहां डोंडी पिटवाकर सब नागरिकों से आग्रह किया गया कि

सोमवार को अपने प्रतिष्ठान न खोलें न ही घर में रसोई पकायें। विदिशा जिले के भोरिया गांव के मंदिर में शंकर भगवान का 24 घंटे तक लगातार पानी से अभिषेक किया गया ताकि झमाझम बारिश हो। अशोक नगर जिले के सोपरा गांव के महेन्द्रदास लिटोरिया ने इंद्रदेवता को मनाने के लिये आमरण अनशन शुरू कर दिया।

ये उदाहरण समाज के व्यवहार में आ रहे बदलाव के ठोस संकेत हैं। समाज पर्यावरण के साथ सामंजस्य बिठाकर विकास की प्रक्रिया चलाता रहा है परन्तु विकास की मौजूदा परिभाषा सामंजस्य के बजाये पर्यावरण पर नियंत्रण करने के सिद्धान्त पर विश्वास करती है। इस सामंजस्य के टूटने के कारण ही जलवायु की व्यवस्था में बदलाव हुये और सूखे, अकाल, बाढ़ जैसे संकट बढ़ते गये। विडम्बना यह है पर्यावरण के टूटे चक्र को जोड़ने के लिये हम धार्मिक कर्मकाण्डों का सहारा ले रहे हैं जबकि जरूरत है कि समाज अपने व्यवहार को जवाबदेय बनाये और उन व्यवस्थाओं-नीतियों का विरोध करने की, जिनके कारण जलवायु में परिवर्तन हो रहे हैं।

मौसम की अपनी एक कुदरती व्यवस्था है। फूलों का खिलना, पशु-पक्षियों का अण्डे देना, पत्तियों का झड़ना और नई कोपलें आना और फलों का लगना-पकना सब कुछ मौसम पर निर्भर करता है। आम के लिये हम गर्मी का इंतजार करते हैं तो सीताफल गुलाबी ठण्ड में आता है। गुलाब का फूल अपने जिस आकार और खुशबू के लिये फूलों का राजा माना जाता है, वह ठण्ड में अपने खुमार पर होता है। ऐसे में यदि मौसम का चक्र बदलने लगे तो पूरी प्रकृतिक व्यवस्था ही हिल जाती है। पत्रकार अनिल यादव बताते हैं कि मध्यप्रदेश के विदिशा जिले के ग्राम कालापाठा, भावनखेड़ी, सिलारपुर, रीछाई, घटेरा पठारी जैसे कई गांवों में जनवरी 2009 में ही महुये के फूल पक कर गिरने लगे जबकि सामान्यतः महुये के पेड़ में फरवरी के दूसरे पखवाड़े में फूल आते हैं और अप्रैल (गर्मी आते हुये) में गिरते हैं। साफ है कि गर्मी पड़ना अब केवल गर्मी के मौसम की ही घटना नहीं रही। इसी तरह सीताफल के फूल जुलाई-अगस्त के महीने में आते हैं परन्तु वर्ष 2009 में इस इलाके में जुलाई महीने में ही पेड़ों पर सीताफल लटकने लगे। गुलमोहर के फूल गर्मी के मौसम में (मार्च-अप्रैल में) खिलना शुरू होते हैं परन्तु दिसम्बर 2008 (जिसे ठोस सर्दी का महीना माना जाता है) में ही गुलमोहर के फूल खिलते देखे गये। अनिल भाई अपने अनुभवों पर लिखते हैं कि जंगल जलेबी या दक्खिनी इमली कहे जाने वाले वृक्ष में अप्रैल-मई में फल आते हैं। ज्यों-ज्यों गर्मी बढ़ती है इसकी जलेबी की तरह घुमावदार फलियां चटकने लगती हैं। अंदर बीज के साथ जो गूदा निकलता है वह बेहद स्वादिष्ट होता है। गर्मी की छुट्टियों में बच्चे मीठी जलेबी के लिए पेड़ के नीचे जुटने लगते हैं। इस वर्ष फरवरी 2009 में ही कई स्थानों पर इस वृक्ष में एक साथ कलियाँ, फूल और फल नजर आने लगे। कारण है सिर्फ बेमौसम की गर्मी।

आमतौर पर बरसात के दिनों में चींटे आसमान में छाये बादलों को देखकर बारिश की आशंका से अपने पूरे कुनबे के साथ नई बसाहट की तलाश में निकलते हैं। लेकिन इधर कुछ सालों से चिंटो की बस्ती में भी कोलाहल मचा हुआ है। 21 जनवरी 2009 को हजारों चींटे अपने बिलों से निकल पड़े। वे न केवल अंडे ढो-ढोकर ले जा रहे थे; बल्कि चलने में असमर्थ शिशु चींटें भी वे अपने मुंह में दबाये हुये थे। काले चींटों की इस लातादात फौज में सैकड़ों नन्हें लाल रंग वाले किशोर चींटे भी चल रहे थे। वे भी अपने नन्हें भाइयों बहनों को जतनपूर्वक अपने मुंह में दबाये हुए थे। बेचारे बेजुबा प्राणियों को लगा कि बस अब बारिश होने ही वाली है और नए आशियाने की तलाश शुरू हो गई। कहावत है कि – अंडा ले चींटी चढ़े, तो बरखा भरपूर। ऐसा भड़करी कहते हैं। (अनिल यादव; 2009)

बदलते मौसम ने बिमारियों के बेमौसम हमले भी बढ़ा दिये हैं। आमतौर पर मध्यप्रदेश में मलेरिया का प्रकोप तीन माह तक रहता है। इस बार 2009 में अप्रैल में शुरू हुआ मलेरिया, डेंगू का प्रकोप नवम्बर 2009 तक बदस्तूर जारी रहा। गर्मी और बरसात के बीच के दिनों में जब तापमान और नमी एक निश्चित स्तर पर होती है, तब मलेरिया व डेंगू फैलाने वाले ये मच्छर पैदा होते हैं। बदलते मौसम के कारण यह बारह मासी आपदा का रूप ले सकता है। मध्यप्रदेश में सीधी और झाबुआ जिले के 4 गांवों में ढाई महीने में 70 बच्चों की मृत्यु इसी वजह से हो गई। इस साल तीन माह में मलेरिया के 34 हजार मामले दर्ज हुये और तो और डेंगू (जो चार साल पहले नई बीमारी माना जाता था) का भी जमकर विस्तार हुआ।

घातक होती वाहनों की भीड़ !

हर साल चार पहिया के काफिले में 10 लाख की वृद्धि होती जा रही है। वे चलेंगे कहाँ? सड़कें तो हैं नहीं? तो सड़कें बनाओ। फिर चाहे खेती की जमीन पर बुल्डोजर चले, हरे पेड़ों पर इलेक्ट्रिक ट्री कटर (अब आरी तो चलती नहीं और कुल्हाड़ी भी देर करती है) चलाओ, पहाड़ काटो। कुछ भी करो पर कारों के लिये आठ लेन चौड़ी, चिकनी सड़कें बनाओ। टाटा जी की दुकान तभी चलेगी जब लोग उनकी कार, नैनो कार खरीदेंगे। सपना दिखाया गया कि यह भारत के आम आदमी की कार है। एक लाख रुपये जैसी कम कीमत पर। इसके निर्माण के लिए जो जमीन ली गई उसमें कितने किसानों की जिन्दगी खपी है यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझी गई। कार की तो कीमत है पर किसान की जिन्दगी की नहीं।

सेंटर फॉर साइंस एण्ड एन्वायरनमेंट (सीएसई) ने आटोमोटिव रिसर्च एसोसिएशन ऑफ इण्डिया से सूचना के अधिकार के तहत जानकारी मांगी कि वर्तमान में अलग-अलग ब्रांड के वाहन कितना कार्बन डाईआक्साइड उत्सर्जित करते हैं? इसके जवाब में एसोसिएशन ने यह कहकर जानकारी देने से मना कर दिया कि यह सूचना देने से कम्पनी के व्यावसायिक हित प्रभावित होंगे। वे इस जानकारी को

जनहित में ही नहीं मानते हैं। यही एसोसिएशन कम्पनियों को कार्बन उत्सर्जन और ईंधन उपभोग का प्रमाणपत्र देती है। केन्द्रीय सड़क परिवहन, जलयान और राजमार्ग मंत्रालयों ने जवाब दिया कि वे ऐसी कोई जानकारी रखते ही नहीं हैं। ऐसे में सीएसई ने अध्ययन करके पता लगाया कि वर्ष 2000 के बाद बनी हुई 1400 सीसी की कार हर एक किलोमीटर पर 143 ग्राम कार्बन उत्सर्जित कर रही है जबकि 2005 में निर्मित कार 173 ग्राम कार्बन पैदा कर रही है। इसी तरह डीजल ईंधन कार 129 से 149 ग्राम कार्बन प्रति किलोमीटर पैदा करती है। 3000 सीसी तक के बड़े वाहन 189 ग्राम प्रति किलोमीटर से 256 ग्राम प्रति किलोमीटर कार्बन का उत्पादन करते हैं। इस अध्ययन से पता चला कि वर्ष 2002 के बाद बने वाहन ज्यादा कार्बन डाईआक्साईड पैदा कर रहे हैं। ईंधन की ज्यादा खपत के कारण यह स्थिति पैदा हो रही है।

शहरीकरण का मतलब है आसमान छूती इमारतें बनाना। इसके लिये सीमेंट-पत्थर चाहिये। रहने के लिये घर बनाना तो ठीक पर अम्बानी श्री का 27 मंजिला मकान ! कहते हैं कि 1500 करोड़ का बना है। उस पर हवाई जहाज उतर सकता है। इन सबके लिए सीमेंट की खदानें चाहिये। सो, जमीन को खदानों में बदला जा रहा है। जंगल काटे जा रहे हैं। नदियों-बांधों की धारायें कम्पनियों की सेवाओं में मोड़ी जा रही हैं। सूचना प्रौद्योगिकी आधुनिक विकास की आत्मा में प्रवेश कर चुकी है। एक कम्प्यूटर जितनी जहरीली गैसों का उत्सर्जन करता है, उसके लिये हर कम्प्यूटर के आसपास 10 बड़े पेड़ होना चाहिए, वरना यही अकेला कम्प्यूटर आपके आसपास बीमारियों की खान तो खड़ी कर ही देता है साथ ही ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन करके पर्यावरण के चक्र को भी बदल रहा होता है।

दुनिया के विकसित देश चाहते हैं कि इन्हीं गैसों को जब (सोखने) के लिए भारत जैसे विकासशील देश खूब पेड़ लगायें परन्तु माइक्रोसॉफ्ट इसके लिये जिम्मेदार नहीं बनाया जायेगा। अब तो एक विशेषज्ञ समिति ने इतना तक कह दिया है कि जिन देशों में पशुधन को बढ़ावा दिया जाता है, उन्हें पशुधन खत्म करना चाहिये, क्योंकि उनसे मिथेन गैस का उत्सर्जन होता है, जो प्रदूषण का बड़ा कारण है। जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याओं के लिये विकसित देश गरीब और विकासशील देशों को लपेटने के चक्कर में हैं। वे यह कहने लगे हैं कि जो कारें या उत्पाद भारत जैसे देशों में बनते हैं वे पर्यावरण के मानकों के अनुरूप नहीं हैं। हमारी तकनीक और उत्पाद मानकों के अनुरूप हैं इसलिये आप (जैसे भारत) इनका उपयोग करें। एम्बेसडर तो गायब हो ही गई है। अब आधी देशी कार मारुती भी सड़क में आ चुकी है। विकसित तकनीकों के नाम पर भी स्थानीय तकनीकों और स्थानीय व्यवस्थाओं को निशाने पर लिया जा चुका है। ऐसा करते ही देश-दुनिया की चुनिंदा कम्पनियाँ बाजार और समाज को अपने कब्जे में ले लेती हैं। हमारी जिंदगी के तौर तरीके आज तात्कालिक मजा तो दे रहे हैं, परन्तु वे आने वाले सालों में हर तरफ से गहरी पीड़ा देने वाले हैं।

यूं ही बेवफ़ा नहीं हुई खेती !

कभी 100 में से 80 लोग खेती से जुड़े रहे। अब इनमें से 17 लोग खेती से नाता तोड़ चुके हैं। सरकार की नीतियाँ खेती किसानों की लगातार उपेक्षा करती रहीं हैं। पर्यावरण चक्र में बदलाव के कारण सूखे की समस्या पैदा हुई। प्राकृतिक संसाधनों का बेहिसाब शोषण करने वाली विकास नीतियों ने विनाश की एक नई श्रृंखला शुरू की है। अब गांव के लोगों को महसूस होने लगा है कि खेती से प्रेम करना ठीक नहीं है, खेती अब बेवफ़ा हो चुकी है। सरकार भी यही कहती है खेती में क्या रखा है ?

इंटर गवर्नमेंटल पैनल आन क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) ने कहा कि जलवायु परिवर्तन में मानव व्यवहार, नीतियों और पर्यावरण चक्र की मिलीजुली भूमिका है। इसका सबसे ज्यादा असर स्वास्थ्य पर पड़ेगा और पड़ रहा है। सिंचाई के पानी के साथ-साथ पीने के पानी की भी कमी होगी, दलदल बढ़ेगा, तटीय इलाकों में बार-बार बाढ़ आयेगी और चक्रवात भी। इसका सबसे पहला असर एशिया और अफ्रीका के तटीय इलाकों में रहने वाले समाज पर पड़ेगा। दुनिया की 16 प्रतिशत जनसंख्या भारत में रहती है, जो ग्लेशियर (बर्फ के पहाड़ों) से रिसकर आने वाले पानी पर निर्भर है। यहां की नदियों में ज्यादातर पानी बर्फ के पहाड़ों से ही आता है। जैसे-जैसे धरती गर्म होगी और वातावरण के तापमान में बढ़ोतरी होगी वैसे-वैसे बर्फ के पहाड़ तेजी से पिघलना शुरू कर देंगे। इससे हमारी नदियों में खूब तेजी से बहुत ज्यादा पानी आयेगा और बाढ़ की स्थिति बनेगी।

संसद की जलवायु परिवर्तन पर 193वीं स्थाई समिति की रिपोर्ट में उल्लेख किया है कि भारत की कृषि व्यवस्था पर पर्यावरण चक्र में बदलावों का गहरा प्रभाव पड़ेगा। ज्यादातर अनाजों की उत्पादकता तापमान में बढ़ोतरी और पानी की कमी के कारण नकारात्मक रूप से प्रभावित होगी। सूखे और बाढ़ के कारण उत्पादन की प्रक्रिया पर गहरा असर पड़ेगा। इसका असर माइक्रोब्स, पैंथोजन्स और कीटों पर भी पड़ेगा। यह समिति कहती है कि इन परिस्थितियों के कारण खाद्यान्न व्यापार में असंतुलन की स्थिति पैदा होगी। जिसका यूरोप और उत्तरी अमेरिका फायदा उठायेंगे पर संकटों का सामना हमें करना पड़ेगा। पर्यावरणीय बदलाव का असर मानसून वर्षा पर साफ दिख रहा है।

कौन उगल रहा है आग?

जलवायु परिवर्तन पूरी दुनिया के लिये एक चुनौती बन रहा है। धरती गरम हो रही है, खेत सूख रहे हैं, उत्पादन घट रहा है, पानी उचट गया है और सांस लेना दूभर हो गया है। इसमें कार्बन उत्सर्जन की बड़ी भूमिका है। कौन पैदा कर रहा है ये कार्बन? अमेरिका की जनसंख्या कम है फिर भी यह चौधरी पूरी दुनिया में 22.2 प्रतिशत कार्बन डाईआक्साइड पैदा करता है जबकि दुनिया के 199 देश कुल

मिलाकर इससे कम कार्बन डाईआक्साईड पैदा कर रहे हैं। दुनिया के 9 बड़े देश मिलकर 78.1 प्रतिशत कार्बन डाईआक्साईड पैदा करते हैं। अमेरिका से चार गुना ज्यादा जनसंख्या वाला देश होने के बावजूद भारत केवल 4.9 प्रतिशत (यानी अमेरिका की एक चौथाई) गैस पैदा करता है। बावजूद इसके संकट सबसे ज्यादा हम जैसे ही भोग रहे हैं।

किसने बिगाड़ा मौसम के मिजाज को ?

लगभग साढ़े 7 लाख वर्षों के ताजा अध्ययनों से यह तथ्य सामने आया है कि औद्योगिक आक्साईड की मात्रा बड़े पैमाने पर बढ़ी है। आज इसका स्तर पिछले साढ़े सात लाख सालों में सबसे ज्यादा है। 19वीं शताब्दी में (औद्योगिक क्रांति के पहले) कार्बन डाई ऑक्साईड की मौजूदगी 280 पीपीएम थी जो अब 387 पीपीएम हो गई है और अब इसकी मात्रा 2-3 पीपीएम प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है। अगर यही स्थिति रही तो 21वीं सदी के अंत तक यह 535 से 983 पीपीएम के

कौन कितनी उगलता है कार्बन डाईआक्साइड देश और दुनिया		
देश	वार्षिक कार्बन डाईआक्साइड उत्सर्जन (मीट्रिक टन में)	कुल उत्सर्जन का प्रतिशत
विश्व में	27,245758000 मी. टन	100 प्रतिशत
अमेरिका	60,49435000 मी. टन	22.2 प्रतिशत
चीन एवं ताईवान	50,10170000 मी. टन	18.4 प्रतिशत
यूरोपियन यूनियन	4001222000 मी. टन	14.7 प्रतिशत
रूस	1524993000 मी. टन	5.4 प्रतिशत
भारत	1342962000 मी. टन	4.9 प्रतिशत
जापान	1257963000 मी. टन	4.6 प्रतिशत
जर्मनी	860522000 मी. टन	3.1 प्रतिशत
कनाडा	639403000 मी. टन	2.3 प्रतिशत
ब्रिटेन	587261000 मी. टन	2.2 प्रतिशत
विश्व के अन्य 199 देश	5971347000 मी. टन	21.9 प्रतिशत

बीच पहुंच चुकी होगी। इससे 1.4 से 5.6 डिग्री सेंटीग्रेड तक तापमान में वृद्धि होगी। कुमार एवं पारेख (1998) ने अपने अध्ययन में बताया कि यदि तापमान में 2 से 3.5 डिग्री सेन्टीग्रेड की बढ़ोतरी होती है तो कृषि क्षेत्र से प्राप्त होने वाली आय में 9 से 25 प्रतिशत की कमी होगी। कार्बन उत्सर्जन ने 'विकास' में योगदान करने वाले अन्य घटकों ने भी बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, मसलन -

सीमेन्ट : सीमेंट उत्पादक जब कैल्शियम कार्बोनेट को गर्म करते हैं तो लाइम और कार्बन डाईआक्साईड पैदा होती है। जीवाश्म ईंधन जलाये जाने के कारण भी इसका उत्सर्जन होता है। 1000 किलोग्राम सीमेन्ट के उत्पादन के साथ ही 900 किलोग्राम कार्बन डाईआक्साईड भी पैदा होती है।

वनों का खत्म होना : ग्रीस का उदाहरण बताता है कि ईसा पूर्व 700 से ईसा पश्चात् 1 वर्ष तक वहां वनों की बेतहाशा कटाई जहाज बनाने, निर्माण कार्यों और ईंधन के लिए की गई। जिसके परिणामस्वरूप आज की तारीख में यह देश और पूरा अंचल गरम और सूखा है। इतना ही नहीं, वृक्षों की जिन प्रजातियों का दुरुपयोग ग्रीस में किया गया वे प्रजातियाँ अब कहीं उपलब्ध नहीं हैं, उनका अस्तित्व ही खत्म हो चुका है।

भूमि उपयोग की प्रवृत्ति : अलग-अलग कारणों से जंगल खत्म होने से धूप में गर्मी बढ़ी है। भू-जल स्रोतों के अति दोहन के कारण धरती की सूर्य की रोशनी को सोखने या प्रतिबिम्बित करने की क्षमता भी कम हुई है। जंगल कार्बन डाईऑक्साइड सोखकर ऑक्सीजन छोड़ते हैं। ऐसे में यदि जंगल कम होंगे तो धरती के वातावरण में यह घातक गैस इकट्ठा होती जायेगी और विनाश का कारण बनेगी। इसीलिये अमीर देश चाहते हैं कि गरीब और विकासशील देशों में वनीकरण के काम को प्रोत्साहन दिया जाये। ग्रीन हाउस गैसों का उत्पादन वे करें किन्तु उपचार करें विकासशील देश। मजबूर देशों की जमीन और जंगलों का उपयोग करके समस्या का समाधान चाहते हैं।

पशुधन : सदियों से या कहें कि सभ्यताओं के इतिहास के समानान्तर पशुधन समाजों की सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा का अहम स्रोत रहा है। किन्तु वर्ष 2006 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पशुधन पर जारी रिपोर्ट “लाईवस्टॉक लॉग शेडो” बताती है कि दुनिया भर की ग्रीन हाउस गैसों में से 18 प्रतिशत हिस्सा पशुधन द्वारा उत्सर्जित मिथेन गैस के रूप में शामिल होता है। यह मानव प्रोत्साहित 65 प्रतिशत नाईट्रस ऑक्साइड और तमाम मिथेन गैस के 37 प्रतिशत के बराबर होता है। फूड एग्रीकल्चर ऑर्गनाइजेशन {एफएओ} की रिपोर्ट कहती है कि दुनिया के सबसे घने अमेजन वर्षा वनों की कुल कटाई में से 70 प्रतिशत कटाई पशुधन की चराई के लिए की गई। भारत जैसे देशों में पशुधन संरक्षण को प्रोत्साहन देने वाली नीतियाँ को खत्म करने के लिए दबाव बनाने का काम शुरू हो चुका है।

यह सही है कि दो-तीन वर्षों की स्थिति में कार्बन उत्सर्जन करने वाले देशों के योगदान (नकारात्मक संदर्भ में) में बदलाव आने शुरू हो गये हैं। पहले जहां अमेरिका सबसे ज्यादा कार्बन उत्सर्जित करने वाले देश के रूप में जाना जाता था वह इस मामले में चीन से पिछड़ गया। ताजा स्थिति यह है कि अब चीन 6103493 हजार मीट्रिक टन (पूरी दुनिया का 21.5 फीसदी) कार्बन उत्सर्जित कर रहा है जबकि अमेरिका 5752289 हजार मीट्रिक टन (पूरी दुनिया का 20.2 फीसदी) कार्बन हर साल पैदा कर रहा है। इसके बाद यूरोप 3914359 हजार मीट्रिक टन (पूरी दुनिया का 13.8 फीसदी), रूस 1564669 हजार मीट्रिक टन (पूरी दुनिया का 5.5 फीसदी) और फिर भारत 1510351 हजार मीट्रिक टन (पूरी दुनिया का 5.3 फीसदी) आता है।

हमें यह जानना जरूरी है कि आखिर कार्बन और ग्रीन हाउस गैस किन-किन क्षेत्रों से सबसे ज्यादा पैदा होती हैं। मौजूदा स्थिति यह है कि बिजली और ऊर्जा के कारण पूरी दुनिया की 24.6 प्रतिशत ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन होता है जबकि जमीन के बदलते उपयोग के कारण 18.2 प्रतिशत, खेती के तौर-तरीकों के कारण 13.5 प्रतिशत, परिवहन के कारण 13.5 प्रतिशत और उद्योगों के कारण 10.4 प्रतिशत गैसों का उत्पादन हो रहा है। स्पष्ट रूप से नजर आता है कि विकसित हो चुके या विकसित हो रहे देश कार्बन उत्सर्जन में सबसे अहम् भूमिका निभा रहे हैं। वहीं दूसरी ओर उपभोक्तावादी व्यवहार और आर्थिक विकास की जरूरतों को पूरा करने के लिए जिस तरह बिजली का उपयोग हो रहा है वह कार्बन उत्सर्जन का बड़ा कारण बना है।



कृषि संस्कृति और अन्न असुरक्षा

अमीर होते जा रहे अपने देश में आम लोगों के भोजन की थाली खाली होती जा रही है। कम-से-कम अनाज की खपत की उभरती हुई नई तस्वीर तो भूख से ही बनी हुई लगती है। यहां भूख से पीड़ित लोगों की संख्या लगातार बढ़ रही है। विकास की गति इतनी तेज है कि उसकी रफ्तार में आम आदमी कहीं पीछे छूटता जा रहा है। उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। विकास होगा तो गरीबी होगी ही, यह स्वीकार कर लिया गया है। भारत सरकार के नेशनल सेम्पल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन (एनएसएसओ) की रिपोर्ट, जो भारत में उपभोग (जिसमें भोजन और जीवन के लिए आवश्यक सभी बुनियादी चीजों का उपभोग शामिल है), बताती है कि किस तरह खाद्य पदार्थों के उपभोग में कमी आई है। यह भी पता चलता है कि गरीबी उन्मूलन की ज्यादातर योजनाएं कृषि को सुरक्षित रखे बगैर विकास की बात करती हैं। देश के ग्रामीण इलाकों में भोजन के उपभोग का स्तर लगातार घट रहा है। 2005-06 में किसी परिवार का एक सदस्य औसतन 11.920 किलोग्राम भोजन का उपभोग करता था और उसके लिए परिवार 106.30 रुपए प्रतिमाह खर्च करता था। लेकिन 2006-07 में औसत भोजन का उपभोग घटकर मात्र 11.685 (1.97 प्रतिशत कम) किलोग्राम प्रति व्यक्ति रह गया और उसके लिए खर्च की जाने वाली राशि बढ़कर 114.80 रुपए हो गई।

भूख के साथ जीने वाला राज्य : मध्यप्रदेश

इस देश के सबसे बड़े राज्यों में से एक मध्यप्रदेश में तो यह तस्वीर भूख की नहीं, भयानक भुखमरी की है। उच्चतम न्यायालय के आदेश के बावजूद मध्यप्रदेश सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली में प्रति राशन कार्ड पर 35 किलोग्राम अनाज का कोटा घटाकर 20 किलोग्राम कर दिया है। इससे गरीब परिवारों की स्थिति और भी बदतर हो गई है। श्योपुर जिले के कराहल विकासखण्ड में सहरिया जनजाति की एक स्त्री, 26 वर्षीय गुड्डी ने कुछ पड़ोसी औरतों की मदद से एक लड़के को जन्म दिया। उन औरतों ने एक हंसिए से बच्चे की नाल काट दी। जब उससे पूछा गया

कि क्या उसने बच्चे को अपना दूध पिलाया, जो बच्चे के लिए बहुत पोषक होता है, तो उसका चेहरा बिलकुल भावहीन था। उसने कहा, 'आप कैसे सोचते हैं कि मैं अपने बच्चे को दूध पिलाऊंगी, जबकि मैंने खुद तीन दिनों से कुछ खाया नहीं है? मेरा पति दस दिनों से बीमार है, इसलिए वह काम पर नहीं जा सका। हमारे पास खाने के लिए कुछ नहीं है। यह हमारी रोज की जिंदगी है। जब हम किसी भी कारण से 4-5 दिनों तक काम नहीं कर पाते और कुछ कमा नहीं पाते हैं तो हमारे पास खाने को कुछ भी नहीं होता है। हम डॉक्टर के पास जाने या स्वास्थ्य सुविधाओं का इस्तेमाल करने की बात भी नहीं सोच सकते। सरकार की सेवाएं भी इतनी महंगी हैं कि हमारी पहुंच के बाहर हैं।' यह हाल तब है जब गर्भवती स्त्रियों और दूध पिलाने वाली माताओं की पोषण सम्बंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए एकीकृत बाल विकास योजना नामक कार्यक्रम चलाया जा रहा है। इस योजना को सही ढंग से चलाने के लिए न तो कोई जिम्मेदार व्यवस्था है, न व्यक्ति।

मध्यप्रदेश में उपभोग के आंकड़े इस राज्य में भी खाद्य सुरक्षा की भीषण कमी की ओर इशारा करते हैं। 2005-06 में यहां के ग्रामीण इलाकों में एक व्यक्ति प्रतिमाह औसतन 11.48 किलोग्राम भोजन की खपत करता था। इसके लिए 86.46 रुपए खर्च करता था। अब प्रति व्यक्ति भोजन की खपत मात्र 9.718 किलोग्राम प्रतिमाह रह गई है। 6 करोड़ तीस लाख की आबादी वाले इस विशालकाय राज्य में खर्च का स्तर अभी भी वही 87.27 रुपए का है। महंगाई की मार सीधे गरीब के पेट पर पड़ रही है। दूसरे राज्यों की तुलना में यह मार बहुत ज्यादा गहरी है। केरल के ग्रामीण इलाकों में भोजन पर कुल खर्च 505.52 रुपए और पंजाब में 511.25 रुपए है। (इसमें अनाज, दूध, मांस, सूखे मेवे और सब्जियां शामिल हैं) जबकि मध्यप्रदेश में यह खपत मात्र 263.86 रुपए ही है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि उनके कुल खर्चों का 80.5 प्रतिशत हिस्सा भोजन पर खर्च होता है। केरल के लोग 83.69 रुपए अंडा, मछली और मांस पर खर्च करते हैं, जबकि मध्यप्रदेश में एक व्यक्ति इन सब पर मात्र 7.44 रुपए ही खर्च करता है। पंजाब में बेशक अनाज पर कम खर्च (91.86 रुपए) खर्च करता है, लेकिन खाद्य पदार्थों पर उनका कुल खर्च 511.25 रुपए प्रति व्यक्ति प्रतिमाह है। इसके साथ ही वे 167.24 रुपए (खाद्य पदार्थ पर होने वाले कुल खर्च का 32.71 प्रतिशत) सिर्फ दूध और उससे बने उत्पादों पर खर्च करते हैं, जबकि मध्यप्रदेश में एक व्यक्ति इन चीजों पर मात्र 44.75 रुपए ही खर्च करता है। हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में उनकी कुल खाद्य खपत का एक बड़ा हिस्सा (41.46 प्रतिशत और 27.27 प्रतिशत) दूध और उससे जुड़े उत्पादों पर खर्च करते हैं। कुल मिलाकर प्रति व्यक्ति खर्च का जिक्र करना यहां पर काफी मौजू होगा। मध्यप्रदेश में प्रति व्यक्ति खर्च का आंकड़ा देश का न्यूनतम खर्च है, जहां प्रतिमाह सिर्फ 514.93 रुपए खर्च होते हैं, जबकि केरल में 1250.35, पंजाब में 1198.93 और हिमाचल प्रदेश में 1117.49 रुपए प्रतिमाह खर्च का आंकड़ा है। इन सभी राज्यों के आंकड़े मध्यप्रदेश के दुगुने से भी ज्यादा हैं।

अक्टूबर, 2008 में जारी किए गए नैशनल सैंपल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन के आंकड़ों के अनुसार प्रतिमाह अनाज की खपत के मामले में मध्यप्रदेश (9.72 किलो अनाज का प्रतिमाह उपभोग) केरल (9.37 किलो) और पंजाब (9.63 किलो) के बाद तीसरे स्थान पर है। इन आंकड़ों का अर्थ यह नहीं है कि केरल और पंजाब की स्थिति मध्यप्रदेश से बुरी है। पंजाब (511 रुपए प्रतिमाह उपभोग) देश के सर्वाधिक खाद्य की खपत करने वाले राज्यों में से है। उसके बाद केरल (506 रुपए) का स्थान है, जबकि मध्यप्रदेश (कुल 263 रुपए) में प्रति व्यक्ति खाद्य पदार्थों पर होने वाला खर्च देश में सबसे कम है। समुद्र तट पर बसा होने के कारण केरल में मछली और फल भी खाये जाते हैं। पंजाब में दूध और उससे बने उत्पादों की भारी मात्रा में खपत होती है, जो वहां की पोषण संबंधी जरूरतों को पूरा कर देता है। यही कारण है कि उनके यहां अनाज की खपत मध्यप्रदेश से कम है।

मध्यप्रदेश न तो समुद्र तटीय राज्य है और न ही मांसाहारी है, यह तो अनाज पर निर्भर समाज है। केरल और पंजाब बहुत समृद्ध और विकसित राज्यों में से हैं। अध्ययन बताते हैं कि लोगों के खाद्य पदार्थों और उसके तरीके पर समृद्धि का भी काफी प्रभाव पड़ता है। डिब्बाबंद भोजन उनके खाद्य पदार्थों में प्रमुख होता है, खासकर पंजाब और बड़े महानगरों में। जहां तक मध्यप्रदेश का सवाल है तो वहां पर लोगों की खरीद क्षमता इतनी नहीं है कि अनाज से इतर खाद्य पदार्थों पर पैसे खर्च कर सकें, इसलिए उन्हें अपने भोजन के लिए मुख्यतः अनाज पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

पिछले एक दशक में मध्यप्रदेश में अनाज का उत्पादन बहुत तेजी से घटा है। इस प्रदेश की स्त्रियों में कुपोषण और खून की कमी की समस्या भयानक है। ये निष्कर्ष राज्य के अधिकृत विभागों द्वारा ही तैयार आंकड़ों से निकाले गए हैं। क्षेत्रीय स्वास्थ्य शोध केंद्र, जबलपुर के आंकड़ों के अनुसार मध्यप्रदेश की सहरिया आदिवासी जनजाति के 93 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। अंतर्राष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान (आईएफपी आरआई) की अभी हाल की एक रिपोर्ट में मध्यप्रदेश को इथियोपिया और चाड की श्रेणी में रखा गया है। मध्यप्रदेश में बच्चों में कुपोषण (60 प्रतिशत) और शिशु मृत्यु दर (एक हजार जीवित जन्म लिए बच्चों में से 7 बच्चों की मृत्यु हो जाती है) पूरे भारत में सबसे ज्यादा है। इस राज्य में 66 लाख परिवार गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। यहां भूख के साथ जी रहे हैं आम लोग।

पिछले तीन वर्षों में बदलते जलवायु, सूखे और कृषि विरोधी नीतियों के साथ ही उत्पादन के तौर-तरीकों का पूरी तरह से औद्योगिकीकरण हो गया सा लगता है। इस अवधि में अनाज और खाद्यान्न की कीमतों में जितनी तेजी से इजाफा हुआ उतना इससे पहले कभी नहीं हुआ था। पहले भी कीमतें ऊपर-नीचे होती थी पर अबकी बार तो केवल ऊपर ही ऊपर जा रही हैं। पिछले 10 वर्षों से अनाज के उत्पादन और बाजार का व्यावहारिक नियंत्रण दुनिया की तीन बड़ी निजी कम्पनियों

के हाथ में है। ये कम्पनियाँ खेत और बाजार में खाने को क्या और किस कीमत पर होगा, यह तय करती हैं। वर्ष 2008-09 के साल आर्थिक मंदी और सूखे के कारण दर्दनाक हो गये। इन 18 महीनों में खाने की थाली 150 प्रतिशत महंगी हो गई। दुनिया भर के संगठन यही आंकड़े जुटा रहे हैं कि अब कितने लोग भूखे सो रहे हैं। भारत में पोषण की कमी के साथ जीने वाले परिवारों की संख्या 77 प्रतिशत है। ये भरपेट भोजन नहीं पाते हैं क्योंकि एक तरफ तो कीमतें बढ़ गई हैं तो दूसरी तरफ सरकारी ढांचा (रियायती अनाज देने वाला) हर रोज कमजोर किया जा रहा है। मध्यप्रदेश में वर्ष 1998-99 से वर्ष 2005-06 की अवधि में बच्चों में कुपोषण 6 प्रतिशत, महिलाओं में खून की कमी 9 प्रतिशत और बच्चों में खून की कमी 10 प्रतिशत बढ़ गई है। मौसम बदलने के कारण मलेरिया, श्वास संक्रमण और अन्य संक्रमण से होने वाली अन्य बीमारियाँ खूब बढ़ रही हैं। जलवायु परिवर्तन खाद्य सुरक्षा और स्वास्थ्य दोनों के लिये नई चुनौतियाँ खड़ी कर रहा है।

कृषि संस्कृति से जुड़े सवाल

भारतीय समाज के लिये कृषि व्यवसाय नहीं, संस्कृति और संस्कार रहा है। यह लालच नहीं, श्रद्धा से संचालित होता रहा है। 'अन्नदाता' के विनम्र गौरव के साथ सर उठाकर जीने वाले मेहनतकशों को किसान कहते हैं यहां। बड़े ही सुनियोजित ढंग से कुछ किसानों को लालची व्यापारी बना दिया गया। सबसे पहली चुनौती फसलों के चयन में आये परिवर्तन के रूप में आई। पहले समाज को अन्न सुरक्षा प्रदान करने वाली ज्वार, बाजरा, मक्का, तिल, कोदो, कुटकी, तुअर, उड़द और चना जैसी फसलों को प्राथमिकता दी जाती थी। ये फसलें कीटनाशक, उर्वरक और अधिक पानी की जरूरत के भारी खर्चों से मुक्त थीं, तीन-चार साल के सूखे से निपटने की क्षमता भी उनमें थी। किसानों को यह समझाया और ललचाया गया कि विश्व बड़ा व्यापक है और नकद फसलों से ज्यादा आय प्राप्त करके वह विश्व की व्यापकता को भोग सकता है। परिणाम स्वरूप किसान समाज ने सोयाबीन, कपास और गन्ना जैसी नकद फसलों को सिर-आँखों पर बिठा लिया। नकद फसलों के बढ़ने से खाद्य सुरक्षा देने वाली फसलों के रकबे में 50 फीसदी तक की कमी आई। सरकार ने भी उन पर सब्सिडी देना बंद कर दिया जिससे ऐसी फसल लेने वाले किसान भी लाचार हो गये। शुरु के कुछ वर्ष जब तक मिट्टी की ऊर्वरता बनी रही, बारिश समय पर पर्याप्त मात्रा में होती रही तो किसान को लाभ होता रहा। परन्तु इन फसलों का असली चेहरा वैसा नहीं था जैसा शुरुआती छह-सात वर्षों में नजर आया। इन फसलों ने भूमि की ऊर्वरता को नष्ट किया, जमीन की नमी चुरा ली, भू-जल स्तर को 400 फिट गहरे तक उतार दिया। ऊपर से खुले बाजार की मार। फिर आया औद्योगिकीकरण का दौर। जमीन कौड़ियों के मोल देशी विदेशी उद्योगों को दी जाने लगी। जब से भूमण्डलीकरण और मुक्त अर्थव्यवस्था का प्रयोग शुरू हुआ है तब से किसान और उसकी किसानी दोनों को नित नई चुनौतियों का सामना

करना पड़ रहा है। कृषि आधारित अर्थव्यवस्था से मुंह मोड़कर सरकार ने ही इस खाद्य असुरक्षा को विकराल संकट का रूप दे दिया है।

दूसरी चुनौती सामने खड़ी हुई नये किस्म के बीजों, उर्वरकों एवं रासायनिक कीटनाशकों के रूप में। शुरू में तो इन कृत्रिम उर्वरकों एवं कीटनाशकों का प्रभाव दिखा। पर जल्दी ही ये बेअसर हो गये। नई सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्न सुरक्षा को तीसरी चुनौती का सामना करना पड़ा निरन्तर छोटी होती जोतों के रूप में। जैसे-जैसे समाज तरक्की करता गया वैसे-वैसे लोगों की जरूरतें बदलती गई। वर्ष 1981 से वर्ष 2001 के बीच जोतों के औसत आकार में 40 फीसदी का अंतर आया है। दस बीघे के खेत अब छह बीघे के रह गये हैं। सन् 1996 में किये गये एक अध्ययन के अनुसार पांच एकड़ के खेत का मालिक यदि आज केवल खेती पर आश्रित है तो वह चार वर्ष में अपने खेत को खोकर दस हजार रुपये का कर्जदार बन जायेगा। यदि परिस्थितियां अनुकूल रहें, यानी पर्याप्त बारिश हो, उपजाऊ मिट्टी हो, समय पर बुआई हो, भरपूर कीटनाशकों का प्रयोग किया जाये तब एक एकड़ के खेत से वर्ष में 10 से 12 हजार रुपये की आय की अपेक्षा की जा सकती है, अन्यथा घाटा ही नियति है। खेती पर लागत बहुत ज्यादा हो गई है और बाजार पर व्यापारियों का कब्जा है। सरकार की नीतियां भी किसान को नहीं बल्कि पूंजीपतियों को संरक्षण प्रदान करती हैं। यही कारण है कि 20 एकड़ के खेत के मालिक भी आज जहां-तहां मजदूरी करते मिल जायेंगे।

गांवों में खाद्यान्न सुरक्षा का सवाल सिर्फ आर्थिक नहीं, सामाजिक सम्मान का भी है। कुछ दशक पहले तक मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान (वे राज्य जो बीमारू राज्य कहलाते हैं) के गांवों में कृषि आधारित व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर और किसान के बीच एक मानवीय सम्बन्ध था। यदि किसी किसान के खेत में काम करने वाला मजदूर भूखा सोता था तो उसकी सार्वजनिक निंदा होती थी। पंचायत के नियमानुसार उसके यहां कोई मजदूर काम करने नहीं जाता था, तब उस किसान को 16 गांव दूर जाकर मजदूर लाने पड़ते थे। दूसरा मसला मजदूरी के भुगतान से जुड़ा हुआ है। हमारे पारम्परिक समाज में मजदूरी को मुद्रा में न मापकर अनाज और जीवन की बुनियादी जरूरतों की सामग्री से मापा जाता था। 1970 के दशक में इस सम्बन्ध में व्यापक परिवर्तन आया और कृषि मजदूर को मुद्रा में भुगतान किया जाने लगा। ऐसा करना भू-स्वामी के लिए मुनाफे का सौदा बना। फिर आया श्रेषार। वह मजदूर की मजदूरी पर भारी पड़ा। काम के ये अवसर भी धीरे-धीरे खत्म होने लगे। सिर्फ कृषि मजदूर ही नहीं, अन्य सेवा आधारित रोजगार, जैसे नाई, खवास, दाई, लुहार, बढ़ई, सुतार, से जुड़े समुदायों को भी नई समाज व्यवस्था में भूख का सामना करना पड़ा क्योंकि अब उन्हें अन्न से सम्बन्धित सामाजिक सुरक्षा नहीं मिल रही जो पहले मानवीय आधार पर अन्य वर्गों से उन्हें मिला करती थी। अब चुनौतियों ज्यादा गंभीर हैं। पर्यावरण के विनाश, फसल चक्र में बदलाव,

किसानों की कमजोर होती स्थिति, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बढ़ते दबाव और किसानों के प्रति सरकार के उदासीन रवैये के कारण ऐसा लगता है कि निकट भविष्य में केवल ऐसी ही फसलों को प्रोत्साहन दिया जायेगा जिनका कई चरणों में उपयोग किया जाता है। जैसे— सोयाबीन का सोयातेल, सोया दूध बड़ी और केक बनाने में किया जाता है, गन्ने से गुड़ भी बनता है, शक्कर भी और शराब भी, इतना ही नहीं उसका कचरा भी उपयोग में लाया जाने लगा है। समाज इसके लिये क्या-क्या कीमतें चुकायेगा.....। सूखा एक ऐसी चुनौती है जिसे सरकार और समाज दोनों एकाकी समस्या के रूप में देख रहे हैं और पानी बचाने का मंत्र जप रहे हैं। धरती की सतह से गायब हो चुकी मिट्टी, जंगलों के कटने से नग्न हुई धरती और तेजी से मर रहे पशुओं की ओर अभी भी उतनी गंभीरता के साथ ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आने वाले वर्षों में पशुधन का अभाव रही—सही किसानों को खत्म करने के लिये काफी होगा।

अस्तित्व ही दांव पर है !

भारत में जैसे-जैसे खेती के पारम्परिक तरीकों की उपेक्षा हुई वैसे-वैसे रासायनिक खेती ने अपनी जड़ें जमाना शुरू कर दी। आज इसने न केवल उत्पादन को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है बल्कि पेयजल एवं सिंचाई के स्रोतों को भी अपनी गिरफ्त में ले लिया है। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और आंध्रप्रदेश के किसान महसूस कर रहे हैं कि रासायनिक पदार्थों के उपयोग के कारण वे कृषि पर से अपना नियंत्रण लगभग खो चुके हैं। अपने देश में 1980 के दशक के मध्य में नकद खेती की नई अवधारणा की लहर चली थी। सरकार ने अपने सारे संसाधनों का उपयोग किसानों को यह समझाने में किया था कि वे कृषि का उत्पादन बढ़ाने में यूरिया, डी.ए.पी. और फॉस्फेट का भरपूर उपयोग करें। रासायनिक कीटनाशक ही फसलों के रोगों का सबसे बेहतर इलाज है। तब भी किसान जानता था कि यह रास्ता ठीक नहीं है। उसने इन पदार्थों का उपयोग करने से इनकार भी किया। उस वक्त सरकार ने रासायनिक उर्वरक गांवों में यूं ही फिंकवा दिये, खेतों में निःशुल्क डालने के वायदे किये गये। 1982-87 के दौर से यह साफ हो जाता है कि एक सुनियोजित साजिश के तहत उन गांवों को बिजली, पानी और सड़क की सुविधा पहले दी गई जो सरकार की बात मानने लगे थे। इस तरह गांव कृषि की तथाकथित नई पद्धति का उपयोग करने लगे। इतना ही नहीं, सरकार ने पहली बार तो सोयाबीन का उच्च गुणवत्ता वाला काला बीज दिया जिससे आश्चर्यजनक उत्पादन होता है पर दूसरी बार से सफेद बीज दिया जाने लगा। इसी दौरान किसानों को मोटर पर सब्सिडी दी गई ताकि किसानों को अपना निर्णय बदलने का अवसर न मिले।

1990 से सोयाबीन को सबसे लाभदायक नकद फसल के रूप में प्रचारित किया जाने लगा। निःसन्देह तीन माह में तैयार होकर लाभ देने वाली इससे बेहतर कोई

और फसल न पहले थी न आज है। किन्तु अब लगातार सोयाबीन की खेती में किसान अपनी लागत भी नहीं निकाल पा रहा है और शुरू हो गया है आत्महत्याओं का सिलसिला। मध्यप्रदेश की जलवायु और जमीन सोयाबीन की खेती के लिए सबसे उपयुक्त मानी जाती है। यही कारण है कि यहां के किसान साल में बार-बार यही फसल ले रहे हैं। वास्तव में सोयाबीन और रासायनिक कृषि पद्धति को एक जरिया बनाया गया है, हमारी सामाजिक अर्थव्यवस्था के विनाश का। सोयाबीन किसान को फायदा दे या न दे, उद्योगों को इसका कचरा भी मुनाफा देता है। सोयाबीन से खाने का तेल तो बनता ही है, तेल बनने की प्रक्रिया के हर चरण में निकलने वाले अवशिष्ट पदार्थ किसी न किसी मायने में आर्थिक लाभ देता है। यह सोया पदार्थ जानवरों के लिये भी एक पौष्टिक पदार्थ है। मध्यप्रदेश की भूमि से उपजे सोयाबीन का डी.ओ.एल. केक सबसे पौष्टिक माना जाता है। इसी से सोयामिल्क, बिस्कट और अन्य खाद्य पदार्थ बनते हैं। आमतौर पर सोयाबीन का तेल बनाने वाली कम्पनी ही ये उत्पाद भी बाजार में बेचती है। इससे होने वाले आर्थिक लाभ को देखते हुये भारत में भी ज्वार, मक्का और बाजरे की खेती तो लगभग खत्म सी हो गई है। दो दशक पहले तब सबसे बेहतर नकद फसल मानी जाने वाली कपास भी इस विनाश से नहीं बच पाई। बदलते हुये दृष्टिकोण और व्यवहार का प्रभाव हमारे समाज के स्वास्थ्य पर भी पड़ा है। आज 57 प्रतिशत महिलायें खून की कमी की शिकार हैं। खून का निर्माण करने में सबसे सक्षम अनाज ज्वार, बाजरा और मक्का का उत्पादन लगातार या तो कम होता जा रहा है या फिर ये पहुंच से दूर! ऐसे में देह में खून बने कैसे?

पहले कृषि के व्यवसाय से जुड़े लोग हर फसल से बीज निकाल कर अगली बुआई के लिये सुरक्षित रख लेते थे। अब किसान को हर बार बुआई के लिये नया बीज बाजार से खरीदना पड़ेगा क्योंकि जैव तकनीक के जरिये खेत से उपजे बीज की उत्पादन क्षमता समाप्त की जा रही है। इन नये हाइब्रिड बीजों पर उसी कम्पनी के कीटनाशकों-उर्वरकों का प्रभाव पड़ेगा जिस कम्पनी के बीजों का उपयोग किया गया है। रासायनिक पदार्थों के उपयोग का नकारात्मक प्रभाव गेहूं, चना और सब्जियों की गुणवत्ता पर भी पड़ा है। पहले ग्रामीण क्षेत्रों में किसान अपने उत्पादन का संग्रह करके रख लेते थे ताकि सही दाम मिलने पर बेच कर लाभ कमाया जा सके। अब उसे संग्रह ही नहीं किया जा सकता है। घुन लग जाता है। पहले किसान के घरों में प्रकृति आधारित मिट्टी से बने संग्रह कक्ष हुआ करते थे जिनमें अनाज सुरक्षित रहता था। अब उनकी जगह प्रशीतक संयंत्रों (कोल्ड स्टोरेज) ने ले ली है। जहां प्रति किलो और सप्ताह के हिसाब से संग्रहण शुल्क देना पड़ता है। ऐसे में यदि किसान उसका संग्रह करेगा तो भी उसकी लागत तो बढ़ती ही जाना है। यानी घाटे में बेचना ही उसके लिये अब कम घाटे का सौदा है। फायदे का तो फिलहाल सोचा ही नहीं जा सकता है।

जब किसानों ने सोयाबीन की नकद क्षमता देखी तो उन्होंने वैकल्पिक और मौसमी व्यवस्था को नकारते हुये एक-एक साल में तीन बार उसी की फसल लेना शुरू कर दिया। गेहूं की बुआई केवल इसलिये की क्योंकि सोयाबीन की फसल के बाद खेत में नाइट्रोजन की बेहतरीन स्थिति होती है और गेहूं में भी फायदा है। इसके कारण जमीन पर अतिरिक्त और असीमित बोझ पड़ा जिससे जमीन अपनी नमी, अपनी उर्वरता, रंगत और खुशबू खोती जा रही है। किसानों ने इसके फायदे को भुनाने के लिये जंगलों को भी तबाह करना शुरू कर दिया। उन्होंने अपने खेत और जमीन के पेड़ तो काटे ही, एक खास तबके ने सरकारी जमीन का अतिक्रमण करके भी वन सम्पदा का नाश किया। सरकार का वन सुरक्षा कानून भी इसमें कोई काम नहीं कर पाया। इसके पीछे कानून या सरकार की निष्क्रियता नहीं, बल्कि औद्योगिक घरानों को लाभ पहुंचाने की मंशा रही है। ये कम्पनियां ही चाहती थी कि जंगल कटें और किसान वह काम करें जो वे चाहते हैं। भूमि सुधार कानून का इस्तेमाल भी आदिवासी, गरीब या किसान की बेहतरी के लिये नहीं किया गया है। सरकार ने ग्रामीण समाज का सीमांकन करके किसान को उसकी सीमाओं का अहसास कराया है। इस कानून के जरिये गांवों में उद्योगों की स्थापना के दरवाजे खोले हैं ताकि उद्योगपति गांव में सहजता से उपलब्ध पानी, सस्ते श्रम का शोषण कर सके, ऐसा उन्होंने किया भी। अब सरकार कहने लगी है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को केवल सोयाबीन पर निर्भर नहीं होने दिया जाये पर अब तो स्थिति नियंत्रण के बाहर हो चुकी है। जमीन किसानों के हाथों से निकलती जा रही है और किसान अपने गांव-खेत से।

साजिशों से जूझता किसान

तरह-तरह की साजिशों का शिकार हो रही खेती-किसानी का अस्तित्व ही संकट में नजर आ रहा है। मध्यप्रदेश के 23 प्रतिशत किसान अब कृषि का विकल्प खोज रहे हैं। मालवा में तो कृषि की नई तकनीकों ने सामाजिक असंतुलन की स्थिति पैदा कर दी है। बात चाहे नई तकनीक की हो, बाजार की हो या फिर विकास की, ये सभी किसी न किसी साजिश के अंग हैं। हर साजिश का शिकार हो रहा है किसान। जब खेती ही जीवन और संस्कृति का आधार हो तब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ-साथ किसी भी जतन से धन कमाने वालों के लिये यह जरूरी हो जाता है कि समाज में ऐसी स्थिति बना दी जाये जिससे किसान उनके चंगुल में हो। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ही अब यह तय करेंगी कि किसान कब, कौन सी, कितनी फसल और किसके लिये पैदा करेगा। इन कम्पनियों का मकसद केवल भारी मुनाफा कमाना ही नहीं है एक ऐसी व्यवस्था बनाना है कि किसान और किसानों इनकी बंधक बन जाएं। सिर्फ आज ही नहीं, कल भी वे वही करें जो ये कंपनियां कहें। राज्य के 12 किसानों की आत्महत्या की वजह सिर्फ आज नहीं आने वाले कल की भयानक तस्वीर भी है।

प्रदेश में सोयाबीन के उत्पादन के लिये सरकार ने किसानों से कई वायदे किये। सबसे बड़ा वायदा तो यह रहा है कि सरकार स्वयं खरीदी मूल्य पर किसानों से सीधे सोयाबीन खरीद लेगी, उन्हें इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। परन्तु पिछले वर्ष तिलहन संघ ने 28 लाख टन में से केवल सवा लाख टन सोयाबीन खरीदा यानी मात्र पांच प्रतिशत। बाकी 27 लाख टन सोयाबीन बेचने के लिये किसान को खुले बाजार में जाना पड़ेगा, जहां बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने मूल्य पर किसान को सोयाबीन बेचने के लिये मजबूर करेंगी। आमतौर पर यह मूल्य लागत से भी कम बैठता है। सोयाबीन के फेर में पड़ कर न केवल हमने अपनी जमीन और खेती को नुकसान पहुंचाया है बल्कि अकाल को भी आमंत्रित किया है। पहले ऐसा कभी नहीं हुआ कि चार सालों तक लगातार बारिश न होने के कारण अकाल पड़ा हो। भू-जल का स्तर बेहतर बने रहने के कारण कृषि भूमि में स्वाभाविक रूप से नमी बनी रहती थी। इससे बारिश कम होने पर भी खेती को इतना भीषण नुकसान नहीं होता था। इस साल तो जमीन में पानी इतना नीचे चला गया कि सभी के माथे पर ही बाढ़ आ गई। हमने अपनी परम्पराओं को जलग्रहण और वाटर शेड या रूफ वाटर हारवेस्टिंग (यानी पानी की खेती) जैसे नाम दे दिये। किसान और पानी के सम्बन्धों को तोड़ दिया। इसके लिये विश्व बैंक ने कई सौ करोड़ रुपये जो दिये हैं।

पहले सरकार पर दबाव डाल कर कृषि क्षेत्र में सब्सिडी को कम करवाया गया और डीजल एवं यूरिया के दाम बढ़वाये गये। इससे किसान की लागत में तेजी से वृद्धि हुई। इस वृद्धि से आम आदमी परेशान हुआ तो विदेशी कम्पनियों ने सस्ते विकल्प बाजार में खड़े कर दिए। स्थानीय कृषि उद्योग को खत्म करने का इससे भयानक षड्यंत्र और क्या होगा। मूंगफली का तेल महंगा हुआ तो सोयाबीन और पाम तेल को विकल्प बनाया गया, घी के स्थान पर बटर आयल आ गया, ज्वार-बाजरा का तो उत्पादन ही बन्द-सा हो गया है। कुपोषण दूर करने के लिए दाल-सब्जी के स्थान पर फल, चेरी और सूखे मेवों की बात की जाने लगी है। इसी तरह हजारों साल से जिस बीज का किसान निरन्तर उपयोग कर रहे थे उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। यह बीज ज्यादा उर्वर था। उसमें ज्यादा प्रतिरोधक क्षमता थी, चमक थी और स्वाद था। उस बीज से पैदा हुई फसल कई महीनों और कई बार तो सालों तक न तो अपना स्वाद खोता था न चमक। वह बीज प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पनप सकता था। जीवन और जीवट से भरी इन बीजों की जगह ली जैव प्रौद्योगिकी से बने बीजों ने। इन नपुंसक बीजों में पुनर्उत्पादन क्षमता नहीं है।

भारत में खेती-किसानी व्यापार-व्यवसाय से ज्यादा संस्कृति और संस्कार, आस्था और विश्वास के साथ सरोकारों से जुड़ा रहा है। सोयाबीन से उपजे लालच ने इस पर सीधा आघात किया है। इसी सोयाबीन के कारण फसलों का वह चक्र टूटा है जिसके भरोसे भारत भीषण प्राकृतिक अकाल का डटकर सामना कर चुका है। पहले हमारे किसान गोहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, सब्जी, दलहन आदि फसलें बदल-बदल कर

लिया करते थे और भूमि का पूरा भाग भी एक अनुपात में ही उपयोग में लाते थे। इससे बीमारी का प्रकोप एक ही फसल पर और वह भी सीमित क्षेत्र में पड़ता था। इससे जमीन की उर्वरता और नमी भी निश्चित मात्रा में बनी रहती थी। सोयाबीन से होने वाले त्वरित लाभ के दबाव में किसान अपनी परम्परा से विमुख हुए और हर तीन माह में सोयाबीन की फसल लेने लगे। जमीन ने भी इस दोहन का जवाब देना शुरू कर दिया है। पहले तो प्रकृति के प्रकोप, भूमि के असंतुलित होते स्वरूप के कारण सोयाबीन का उत्पादन प्रभावित हुआ, फिर बाजार में इसके भाव इतने गिरे कि जितना किसानों ने सपने में भी नहीं सोचा था। मालवा क्षेत्र में तो खेत के खेत सोयाबीन से पटने लगे थे। अब किसानों को समझना ही होगा कि सोयाबीन हमारी सांस्कृतिक अर्थव्यवस्था को चौपट करने का षड्यंत्र भी हो सकता है। सोयाबीन के बाजार तंत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को हर कदम मुनाफा मिलता है। तेल निकलने के बाद बची हुई खली से सोया बड़ी बनती है, सोया दूध और बिस्कट बनते हैं। यानी एक बीज से चार बार लाभ कमाया जाता है। इसमें से किसानों के हिस्से में कुछ भी नहीं आता।

विकसित देशों में यही सोया खली जानवरों का प्रमुख खाद्य पदार्थ है। उन देशों में दूध और मांस के उत्पादन के लिये अलग-अलग जानवरों का पालन किया जाता है। अब न्यूजीलैण्ड और यूरोपीय देश भारत में 40 रुपये प्रति लीटर की दर से दूध उपलब्ध कराने की तैयारी कर रहे हैं। इस दूध कीमत तो ज्यादा तो है ही, पर इसे तीन माह तक सुरक्षित भी रखा जा सकेगा। हमारे पशुपालक तो दूध में पानी मिलाकर भी अपनी लागत नहीं निकाल पा रहे। यही कारण है कि जहां चार साल पहले चौटाला की मण्डी में पचास हजार जानवर खरीद-फरोख्त के लिये आते थे, अब डेढ़ से दो लाख जानवर बिकने आ रहे हैं। जब बाजार प्रतिस्पर्धा में दूध टिक ही नहीं पायेगा तब स्वाभाविक तौर पर पौने दो करोड़ किसान पशुपालन बंद कर देंगे। जब देश में पशु ही नहीं रहेंगे तब विदेशी कम्पनियां अपनी इच्छा से मूल्यां का निर्धारण करेंगी। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कभी भी सरकार ने दुग्ध उत्पादन के लिये अनुदान या रियायत का प्रावधान नहीं किया है जबकि अमेरिका में 65 प्रतिशत अनुदान की व्यवस्था रही है ताकि किसानों को तो लाभ मिले ही, आम आदमी को भी उचित मूल्य पर सामग्री उपलब्ध हो। भारत सरकार ने जहां एक ओर किसानों व पशुपालकों की सहायता नहीं की वहीं वर्ष 2000 में बीस हजार टन सप्रेटा दूध आयात किया, वह भी बिना आयात शुल्क के। अब भारत के गैर जिम्मेदार कृषि मंत्री बार-बार यह बयान देकर कि दूध-अनाज का उत्पादन कम हो रहा है और सरकार कुछ नहीं कर सकती है, बाजार को सक्रिय होने का न्यौता देते रहते हैं।

‘विकास’ की कई सीढ़ियां चढ़ने के बाद भी उपभोग का स्तर बढ़ने के बजाये घट रहा है। सन् 1923-24 में भारत में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न के उपभोग का औसत 526

ग्राम था। आज यह घटकर 396 ग्राम रह गया है। इसका एक कारण है वैकल्पिक खाद्य सामग्रियों के उपभोग में वृद्धि। फास्टफूड, डिब्बा बंद सामग्री और उच्च या निम्न कैलोरी वाली सामग्रियों का प्रचलन तेजी से बढ़ा है। किसान के उगाये हुये आलू की कीमत दो रुपये किलो होती है परन्तु बहुराष्ट्रीय कम्पनी द्वारा उसी आलू से बनाई गई चिप्स 240 रुपये किलो बिकती है। दो रुपये किलो बिकने वाले आलू के मूल्यों के उतार-चढ़ाव की बात तो होती है पर ढाई सौ रुपये किलो बिकने वाली आलू चिप्स की कभी नहीं, क्योंकि यह बहुराष्ट्रीय कम्पनी का उत्पाद है। मनचाहा दाम नहीं मिलने पर विश्व में भारत की छवि खराब होगी, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हम पिछड़ जायेंगे, फिर चाहे किसान बेमौत क्यों न मरे। संसद में भी बहुराष्ट्रीय कम्पनी की लॉबिंग करने वाले बहुत हैं, पर किसान के पक्ष में कोई नहीं।

दो अफ्रीकी देशों नाइजीरिया और सेनेगल में भी इसी तरह ब्रिटिश टैबैको (बैट) नामक कम्पनी ने आम आदमी को तम्बाकू की खेती के लिये प्रेरित किया था। इसके लिये किसानों को तकनीक दी गई, रियायतें दी गईं और पूरा उत्पाद कम्पनी ने भारी कीमत में खरीद लिया। किसानों को भी अच्छा-खासा मुनाफा हुआ। फिर क्या था पूरा देश तम्बाकू की खेती करने लगा। एक समय ऐसा आया जब तम्बाकू और सिगरेट उन देशों की जरूरत बन गये। पहले कम्पनी ने तम्बाकू के दाम कम दिये। फिर खरीदना ही बंद कर दिया। जमीन पूरी तरह बर्बाद हो गई। उन देशों के पास खाद्यान्न खरीदने के लिये कुछ नहीं बचा। तब उन्हें विश्व बैंक से कर्ज लेना पड़ा। उनका परम्परा से नाता हमेशा के लिए टूट चुका था। अब किसान एकदम अकेले पड़ चुके हैं। न तो सरकार साथ है और न ही कंपनियां और न ही उपभोक्ताओं की जमात!

रासायनिक कीटनाशक

दुनिया भर में कीटनाशक और रसायनों का उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि इससे खरपतवार और कीड़े मकोड़े खत्म हो जायेंगे और पेड़ पौधे निरोग रहेंगे। अनाज, सब्जियां, फल, फूल और वनस्पतियों की बेहतर सुरक्षा होगी। सच्चाई तो यह है कि इन कीटों, फफूंद और रोगों के जीवाणुओं की कम से कम पांच फीसदी खतरनाक रसायनों के प्रभावों से बच जाती है और इनसे सामना करने की प्रतिरोधक क्षमता हासिल कर लेती है। ऐसे कीट की नई पीढ़ी की प्रतिरोधी क्षमता भी उतनी ही होती है। उन पर कीटनाशकों का प्रभाव नहीं पड़ता है। फिर इन्हें खत्म करने के लिये ज्यादा शक्तिशाली, ज्यादा जहरीले रसायनों की जरूरत पड़ती है। कीटनाशक रसायन बनाने वाली कम्पनियों के लिये यह एक बाजार है। दूसरी तरफ इन जहरीले रसायनों का जहर खेतों में लगे टमाटर, आलू, सेब, संतरे, चीकू, गेहूँ, धान और अंगूर जैसे खाद्य पदार्थों पर पड़ता है, वे इसे सोख लेते हैं। ये रसायन जमीन की मिट्टी, नदी के पानी, वातावरण की हवा में भी

घुलमिल जाते हैं। यह इतना फैल जाता है हमारी सांसों में समा जाता है। खाना, पानी, हवा...हर चीज के माध्यम से हमारे शरीर के अन्दर पहुंचता रहता है। यह जहर पसीने, श्वास, मल या मूत्र के जरिये हमारे शरीर से बाहर भी नहीं निकलता है। शरीर की ही कोशिकाओं में फैलकर लाइलाज रोगों और भांति-भांति के कैंसर को जन्म देता है। आज हर सेब, हर टमाटर और हर रोटी और सब्जी के साथ जहर की थोड़ी-थोड़ी मात्रा हमारे शरीर में प्रवेश कर रही है और हम दुखदायी कैंसर की ओर बढ़ रहे हैं। कैंसर एकाएक नहीं होगा। पहले सिरदर्द, त्वचा समस्या, अल्सर और फिर कैंसर। पश्चिमी देशों सहित भारत के कई राज्यों में इन कीटनाशकों ने लाखों लोगों को स्थाई रूप से बीमार बनाया है। इनमें से ज्यादातर मितली (नॉसी), डायरिया, दमा, साईनस, एलर्जी, प्रतिरोधक क्षमता में कमी और मोतियाबिंद की समस्या का सामना कर रहे हैं। इस प्रदूषण से महिलाओं में स्तन कैंसर की वृद्धि हो रही है, उनके गर्भाशय तथा मासिक धर्म की नियमितता पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है, उनकी रासायनिक अंतःस्रावी ग्रंथियां भी शिकार हो रही हैं। भोजन तो भोजन, अब तो मांएं अपने दूध के जरिए अपने ही बच्चों को अनजाने में जहर पिला रही हैं। जो जहर ही खायेगा, पियेगा और सांस में भी वही लेगा वह अपने बच्चों को चाहकर भी जहर से मुक्त अमृत कहां से पिलाएंगी? बच्चों में शारीरिक विकलांगता स्थाई होने लगी है। पुरुषों की प्रजनन क्षमता में भी निरंतर कमी आ रही है। जानवर भी नहीं बच पाये हैं इसके प्रभाव से। पिछले तीन वर्षों में भारत में गिद्धों की संख्या में 90 फीसदी की कमी आ गई है।

अमेरिका इस तरह के रसायन उत्पादकों को सबसे बड़ा अड़्डा है। ड्यूपां, अपजोन, फाइजर और ल्यूब्रीजोल ...ये सब अमेरिकी अमानत है। अकेले ड्यूपां और उसकी सहायक संस्थायें रोज 2.10 करोड़ पाउंड प्रदूषक छोड़ते हैं। 1986 में इसने 34 करोड़ पाउंड जहरीले रसायन वायु, मिट्टी और पानी में डाले। यह कम्पनी क्लोरो-फ्लोरो कार्बन (सी.एफ.सी.) का उत्पादन करने वाली सबसे बड़ी कम्पनी है। यह रसायन वातावरण की ओजोन परत में क्षय का सबसे बड़ा कारण है। इसकी वजह से कम से कम 4 लाख व्यक्ति त्वचा कैंसर से प्रभावित होंगे और मोतिया बिंद के मामले डेढ़ करोड़ बढ़ जायेंगे। फसलों को तो गंभीर नुकसान होता ही है। जो जहर कीड़ों को मारेगा वह इन्सानों पर असर न करे ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिए उपयोग की विधि में यह लिखा भी जाता है कि इस रसायन का छिड़काव करते समय नाक एवं मुंह को कपड़े से, आंखों को मास्क से और हाथों को दस्तानों से ढंक लें। यदि रसायन त्वचा से स्पर्श कर जाये तो तुरन्त दो-तीन बार साबुन से उसे धोयें और शीघ्र ही डाक्टर से इलाज करवायें.....क्यों?..... क्योंकि यह एक जानलेवा जहर है। मुनाफाखोर कीटनाशक रसायन उत्पादन करने वाले संस्थान हमें सीधे जहर के सम्पर्क में न आने की चेतावनी दे भी रहे हैं और यही जहर सब्जियों, अनाज, फलों और पानी के जरिये हमारे शरीर में पहुंचाया भी जा रहा है। भोपाल में यूनिशन कार्बाइड एक कीटनाशक रसायन बनाने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनी ही तो थी

जिससे 1984 में मिथाइल आइसोसाइनेट नामक गैस का रिसाव हुआ था। अब तक इससे प्रभावित 24 हजार लोगों की मौत हो चुकी है। उस गैस में फास्जीन, क्लोरोफार्म, हाइड्रोक्लोरिक एसिड जैसे तत्वों का मिश्रण था। भोपालवासियों के शरीर में यह धीमा जहर आज भी मौजूद है।

तरल और गैस के रूप में पाया जाने वाले फास्जीन का उपयोग रासायनिक हथियारों के निर्माण में होता रहा है। विश्व युद्ध के दौरान हिटलर ने इसके जरिए लाखों सैनिकों को मौत के घाट उतारा था। फास्जीन वायु से साढ़े तीन गुना ज्यादा भारी होती है जिससे श्वास तंत्र बुरी तरह प्रभावित होता है। यह आंखों और गले में जलन तथा त्वचा पर सरसराहट पैदा करता है। श्वास में ज्यादा तकलीफ देता है। दम घुटता है।... मौत तक हो जाती है। फास्जीन की थोड़ी सी मात्रा भी मृत्यु का कारण हो सकती है। भोपाल में गैस पीड़ितों में ये तीनों लक्षण साफ-साफ दिखे। इससे व्यक्ति फुफ्फुस वात विकार से प्रभावित हो जाता है और धीरे-धीरे मृत्यु की ओर बढ़ता है। क्योंकि ज्यादातर कीट अब हल्के जहर से प्रभावित ही नहीं होते हैं, फास्जीन जैसी गैस का उपयोग पेस्ट कंट्रोल रसायनों में भी होने लगा है।

पूरे विश्व में डीडीटी पर प्रतिबंध है किन्तु मलेरिया नियंत्रण के नाम पर भारत में आज भी इसका उपयोग हो रहा है। बीएचसी की खपत भी निरन्तर बढ़ती जा रही है। पचास के दशक में डीडीटी, बीएचसी और मैथालियोन का वार्षिक उपयोग दो हजार टन था जो आज बढ़कर एक लाख टन तक पहुंच चुका है। एल्यूमिनियम फास्फाइड, जो अनाज संग्रह के लिये सर्वाधिक प्रभावशाली पदार्थ माना जाता है, हमारे भोजन में जाने के बाद जहरीला असर करता है। आल इण्डिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज द्वारा कराये गये एक सर्वेक्षण से एल्यूमिनियम फास्फाइड के ही जहरीले असर के 114 उदाहरण रोहतक (हरियाणा) में, 55 उत्तरप्रदेश में और 30 हिमाचल प्रदेश में मिले थे। कीटनाशक दवाओं के छिड़काव वाले गेहूं के आटे की पूरियां खाने से उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में करीब डेढ़ सौ व्यक्ति मौत के शिकार हो गये थे जबकि कालीडोल नामक कीटनाशक के छिड़काव वाली चीनी और गेहूं के आटे के उपयोग से केरल में 106 लोगों की मृत्यु हो गई थी।

डीडीटी, बीएचसी, एल्ड्रान, क्लोसडेन, एड्रिन, मिथाइल पैराथियोन, टोक्साफेन, हेप्टाक्लोर तथा लिण्डेन जैसे पूरी दुनिया में प्रतिबंधित रसायनों का इस्तेमाल भारत में धड़ल्ले से हो रहा है। नतीजतन एक औसत भारतीय अपने दैनिक आहार में स्वादिष्ट भोजन के साथ 0.27 मिलीग्राम डीडीटी भी अपने पेट में डालता है। औसत भारतीय के शरीर के ऊतकों में एकत्रित हुये डीडीटी का स्तर 12.8 से 31 पीपीएम है। यानी विश्व में सबसे ऊंचा हैं। गेहूं में कीटनाशक का स्तर 1.6 से 17.4 पीपीएम, चावल में 0.8 से 16.4 पीपीएम, दालों में 2.9 से 16.9 पीपीएम, मूंगफली में 3.0 से 19.1 पीपीएम, साग-सब्जी में 5.00 और आलू में 68.5 पीपीएम तक डीडीटी पाया गया है।

महाराष्ट्र में डेयरी द्वारा बोटलों में बिकने वाले दूध के 90 प्रतिशत नमूनों में 4.8 से 6.3 पीपीएम तक डिल्यूट्रीन भी पाया गया है। खेती में रासायनिक जहर के उपयोग के कारण नदियों का पानी भी जहरीला हो गया है। कर्नाटक के हसन जिले के तालाबों के पीने के पानी में तो 0.02 से लेकर 0.20 पीपीएम तक कीटनाशक पाये गये हैं जबकि कावेरी नदी के पानी में 1000 पीपीबी (पाटर्स पर बिलियन) बीएचसी और 1300 पीपीबी पेरीथियोन पाया गया है।

...और अब जी एम खाद्यान्न

खाद्यान्न असुरक्षा के डर से पूरी दुनिया सहमी हुई है। संकट के इस दौर में भी अमेरिका अपनी दादागिरी से फायदा उठाने की ताक में है। अमेरिका और उस जैसे विकसित देश चाहते हैं कि भारत अपने यहां खाद्यान्न उत्पादन की प्रक्रिया को संशोधित कर खुले निर्यात की नीतियों को लागू करे जो अब शुरू हो भी चुका है। साथ ही यह जताने-बताने की भरपूर कोशिश की जा रही है कि जीनांतरित खाद्यान्न उत्पादन की तकनीकें ही इस संकट से निजात दिला सकती हैं और दुनिया को भुखमरी का शिकार होने से बचा सकती हैं। जैव तकनीक को सबसे पहले और सबसे ज्यादा बढ़ावा अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने ही दिया। जनतंत्र के नाम पर दुनिया भर में आर्थिक उपनिवेशवाद थोपने वाले अमेरिका ने उसके पक्ष में नीतियां बनाईं। सन् 2002 में विश्व खाद्य सम्मेलन में गरीबी-भुखमरी पर चर्चा के दौरान विकसित देशों ने कहा कि भूमण्डलीकरण से ही भुखमरी मिट सकती है और बायोटेक्नालॉजी के जरिये ही इस संकट को हल किया जा सकता है। अमेरिका के कृषि सचिव ने यहां तक कह दिया कि सम्मेलन के घोषणा पत्र में सभी देश जीएम फसलों को बढ़ावा देने पर सहमति जाहिर करें और अपनी नीतियां इसी तरह बनायें। अमेरिका ने धमकी तक दे दी थी कि ऐसा न होने पर वह विश्व खाद्य सम्मेलन के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। इस दबाव में जैव परिवर्धित तकनीक को भुखमरी मिटाने के लिये जरूरी मानना पड़ा। पिछले कुछ वर्षों में विकसित देशों में पेट्रोलियम उत्पादों की जरूरत में बेतहाशा वृद्धि हुई है। उसे पूरा करने के लिए अमेरिका ने अपने खाद्यान्न का उपयोग बायोडीजल बनाने में करना शुरू कर दिया है। अमेरिका में पैदा होने वाला अतिरिक्त खाद्यान्न उनके विलासितापूर्ण वाहन खा जाते हैं। जरूरतमंद देशों के लोगों तक नहीं पहुंचता। अमेरिका में जीनांतरित खाद्यान्न का उपयोग मानव उपभोग के लिए नहीं, बायोडीजल के लिए किया जाता है। वे जानते हैं कि इस तरह का खाद्यान्न मानव अस्तित्व के लिए खतरनाक होगा। फिर भी विकासशील देशों पर लगातार दबाव डाला जा रहा है कि अपने यहां जीनांतरित खाद्यान्न का उत्पादन मानव उपभोग के लिए करें। बीटी फसलों के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि किसान जितने संसाधनों का उपयोग करते हैं, उसके अनुरूप फायदा नहीं कमा पाते हैं। सबसे ज्यादा हानि फसलों में अलग-अलग बीमारियों और कीटों के हमलों से होती है। बीमारियों से

पार पाने के लिए किसानों को तरह-तरह के कीटनाशकों का छिड़काव करना पड़ता है, जिसमें खेती की लागत बढ़ती है। जैव तकनीक के जरिये कम्पनियों ने बीजों के भीतर ही कीटनाशकों का प्रवेश करा दिया है। उनका दावा है कि यदि किसान उनकी कम्पनी के बीजों का उपयोग करेंगे तो उन्हें कीटनाशकों का उपयोग नहीं करना पड़ेगा। इससे कृषि की लागत कम होगी और उत्पादन भी बढ़ेगा। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने भूमण्डलीकरण की राजनीति के जरिये विकासशील देशों (खासतौर पर कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था पर आधारित भारत जैसे देशों) पर अपना शिकंजा कसने की कवायद शुरू की है। यहां की जनतांत्रिक व्यवस्था की कमजोरियां उन्हें रास आईं। भ्रष्टाचार और तकनीकी जाल में उलझे सरकारी संस्थान भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के निर्देशों पर नीतियां बनाते हैं।

बीटी बैंगन आ रहा है...

अब बाजार में बीटी बैंगन के बीज आ रहे हैं। इसका अर्थ है बैंगन के जहर बुझे बीज का आना। 'जीनान्तरण मुक्त म.प्र. हेतु गठजोड़' ने अपने दस्तावेज में लिखा है कि मध्यप्रदेश के जबलपुर स्थित जवाहर लाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय ने राज्य सरकार को बगैर सूचना दिए और सरकारी अनुमति के बिना ही अपने परिसर में मायको कंपनी के बीटी बैंगन का रोपण किया है। मायको को परीक्षण के लिए दो साल तक की अनुमति दी गई थी, जिसमें से एक साल निकल चुका है। बीटी बैंगन के पौधों के रोपण से पहले इस बात का कोई परीक्षण नहीं किया गया है कि कहीं इस रोपण से पास के खेतों और उसमें खड़ी फसल तो संक्रमित नहीं होगी। सुप्रीम कोर्ट ने इस तरह के परीक्षण से पहले इन बातों का ध्यान रखने की स्पष्ट हिदायत दी हुई है। जबलपुर सेंटर इससे पहले जीएम बीजों के मैदानी परीक्षण का हिस्सा नहीं रहा है। ऐसे में यह स्पष्ट नहीं है कि पिछले साल से यह इतने बड़े पैमाने पर जीएम बीजों के मैदानी परीक्षण का हिस्सा कैसे बन गया। इस साल हुए व्यापक मैदानी परीक्षणों से साफ है कि केंद्र सरकार बीटी बैंगन को बाजार में पेश करने के करीब पहुंच चुकी है, लेकिन सुरक्षा और अन्य मुद्दों से जुड़े सवाल अभी भी कायम हैं। अगर इन बीजों के ओपन एअर ट्रायल की अनुमति दी गई और संक्रमण फैल गया तो बीटी और गैर बीटी बैंगन की पहचान करना मुश्किल हो जाएगा। तब उपभोक्ताओं के सामने भी कोई विकल्प नहीं रहेगा।

बीटी बैंगन के सुरक्षित होने के सवाल पर कोई स्वतंत्र, निष्पक्ष और समग्र सरकारी वैज्ञानिक शोध नहीं हुआ है। मायको कंपनी ने नियामक अधिकारियों को अब तक इन बीजों के परीक्षण का सिर्फ सारांश पेश किया है। इन संक्षिप्त आंकड़ों में इसकी सुरक्षा को लेकर कई सवाल उठाए गए हैं। इन आंकड़ों को अब तक सार्वजनिक समीक्षा के लिए जारी नहीं किया गया है। इसके बावजूद भारत सरकार ने अपने ही बनाए नियमों को तोड़ते हुए पिछले साल बीटी बैंगन के व्यापक परीक्षणों की अनुमति

दी थी और वह भी बायोसेफ्टी की मंजूरी दिए बिना। जीएम खाद्य फसलों की सुरक्षा को लेकर मोन्सांतो कंपनी पहले भी झूठ बोलती रही है, साथ ही परीक्षणों के विवादास्पद आंकड़ों को दबाने की भी कोशिश करती रही है। इस बात के कई वैज्ञानिक प्रमाण मिले हैं कि जीएम खाद्य पदार्थों में विषैलेपन और पोषण की गुणवत्ता को बदला गया है। जिस कीट से फसल को बचाने के लिये बैक्टीरिया बीजों में प्रवेश कराया जा रहा है क्या वह उन लोगों पर असर नहीं करेगा जो जैव परिवर्धित बीजों से उपजाये गये फल या सब्जी खायेंगे। यहां तक कि बीटी कॉटन जैसी गैर खाद्य फसलों के लिए मध्यप्रदेश के निमाड़ क्षेत्र में किए गए अध्ययन में पाया गया है कि इसे उगाने वाले किसान और स्पनिंग मिल के मजदूरों को इसके संपर्क में आने पर एलर्जी की शिकायत होने लगी है।

ये कम्पनियां नई तकनीक से बने बीजों के नकारात्मक प्रभावों को छिपाती रही हैं। जो कम्पनी बीटी बैंगन के बीजों का उत्पादन करवा रही है उसने पहले बीटी मक्का के घातक परिणामों को छिपाया है। बीटी मक्का के प्रयोगों से पता चला था इससे किडनी में असामान्यता आ जाती है और खून में श्वेत रक्त कोशिकाओं का स्तर बढ़ जाता है। कम्पनियां कहती हैं कि उस बीज से बैंगन के बीज का सम्बंध नहीं है पर कई वरिष्ठ वैज्ञानिक मानते हैं कि जैव परिवर्धित बीजों का व्यापारिक उपयोग करने से पहले उसके प्रभावों का परीक्षण कई पीढ़ियों पर करना होगा ताकि इसके प्रभावों को जांचा-परखा जा सके परन्तु लाभ कमाने को तत्पर बाजारू कम्पनियां इंसानी समाज के अस्तित्व को ही दांव पर लगा रही हैं।

खाद्य बीजों, खास तौर पर बैंगन के बीजों में जिस 'क्राय-1 एसी' जीन को प्रवेश कराया गया है, उसके प्रभावों का प्रयोग चूहों पर किया गया। उससे पता चला कि यह प्रतिरोधक क्षमता को कमजोर करता है और आंतों में चिपक जाता है। इससे पहले के 'क्राय-1 एसी' जीन के परीक्षण यह सिद्ध करते हैं कि उससे जीवों में जबरदस्त एलर्जी होती है। यदि यह जीन लगातार मानव शरीर में प्रवेश करेगा तो वह कभी भी खतरनाक बीमारियों से नहीं उबर पायेगा। जीएम खाद्य पदार्थों पर हुआ कोई भी अध्ययन यह सिद्ध नहीं करता है कि ऐसे बीज या उत्पादन जानलेवा खतरनाक रसायनों और संकटों से मुक्त है। यही कारण है कि किसी भी विकसित देश ने अपने यहां जीएम खाद्यान्न को प्रोत्साहित नहीं किया है।

बीटी बैंगन के बीजों में एनपीटी-2 जीन का भी प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह जीन कैनामायसिन प्रतिरोध के रूप में जाना जाता है। इसके कारण मानव शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और कोशिकायें खत्म हो जाती है। यदि व्यक्ति बीटी बैंगन का उपयोग करता है तो उस पर एंटीबायोटिक दवाओं का असर भी नहीं हो पायेगा।

संकट केवल बैंगन तक सीमित नहीं है। आलू का उत्पादन भी बढ़ाया जा सकता है यह तर्क बाजार ने फैला दिया है। आलू के बीज में मकड़ी के जीन प्रवेश कराये गये

हैं। तर्क यह दिया गया कि इस आलू में प्रोटीन ज्यादा है और यह प्रोटीन गरीबों के लिये ज्यादा फायदेमंद हैं। यह अलग बात है कि हिमाचल प्रदेश के प्राकृतिक आलू में भी बहुत प्रोटीन होने की बात सिद्ध हो गई।

बहुराष्ट्रीय बीज निर्माता कम्पनी मानसैंटो ने एक अध्ययन कर बताया कि कीटों और बीमारियों के कारण हर वर्ष 22.1 करोड़ डालर का बैंगन उत्पादन बेकार हो जाता है। इतनी राशि का तो कुल बैंगन उत्पादन ही नहीं होता है। बैंगन के बीजों में मानसैंटो कम्पनी ने वही बैक्टिरिया— काय 1एसी जीन डाला है जो कपास के बीज में डाला गया था। वही कपास का बीज जिसकी फसल को खाकर आंध्रप्रदेश में 1600 भेड़ें मर गई थीं।

मध्यप्रदेश में बीटी कॉटन की खेती का अनुभव भी घाटे का ही रहा है। 1996–97 से 2001–02 तक राज्य में प्रति हेक्टेयर कपास की पैदावार 613 किलोग्राम हुई। तब बीटी कॉटन चलन में नहीं था। अगले छह साल में, यानी 2002–03 से 2007–08 के बीच प्रदेश में कपास की पैदावार गिरकर महज 518 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर ही रह गई है। बीटी कॉटन के प्रवेश के बाद से प्रदेश में कपास की पैदावार में प्रति हेक्टेयर करीब एक क्विंटल की गिरावट आई है। बीटी कपास की खेती करने वाले डेढ़ लाख किसान घाटे में डूब कर कर्ज के जाल में फंसे और उन्हें आत्महत्या करना पड़ी। इसी फसल के पेड़ और कपास के फल खाकर 1600 भेड़ें मर गईं। शुरुआत तो बीटी कपास से हुई थी परन्तु अब भारत सरकार की जेनेटिक इंजीनियरिंग एप्रवुल कमेटी (जीईएसी) ने खाद्य फसलों के लिये भी जहर बुझे बीजों के उपयोग को अनुमति देना शुरू कर दिया है। अब तक किसान अपनी फसल से ही बीजों का भी उत्पादन करता था किन्तु अब नई तकनीकी परिस्थितियों में जीएम फसलों में उपयोग होने वाले बीजों का पुनर्उत्पादन नहीं किया जा सकेगा। हर बार किसानों को बाजार से ही बीजों की खरीदी करनी होगी। यह भी तय है कि बाजार में कुछ चुनिंदा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के ही बीज उपलब्ध होंगे जिनकी कीमत अभी भी सामान्य बीजों के मुकाबले 10 से 200 गुना ज्यादा है। स्वाभाविक है कि हर साल बीजों का बाजार ही खरबों रुपये का होने वाला है जिस पर नियंत्रण की कोशिशें हो रही हैं। जी एम खाद्यान्न को अनुमति भी उन्हीं कोशिशों में से एक कोशिश का नतीजा है।

जी एम खाद्यान्न की अनुमति के मतलब

अंततः भारत ने भी जीनांतरित खाद्यान्न उत्पादनों के जमीनी परीक्षण की अनुमति दे दी। इसके अन्तर्गत 11 स्थानों पर चार किस्म के बीटी बैंगन के उत्पादन के परीक्षण किये गये। यह अनुमति देते समय सरकार ने जनकल्याण से ज्यादा बाजार का ख्याल रखा है। हालाँकि न्यायपालिका ने कुछ निर्देश देकर इन प्रयोगों की सीमा तय करने की कोशिश की है परन्तु कानून और नियमों की अड़चन आने पर उन

कानूनों को ही बदल दिया जाता है। अब यह तय है कि बीटी बैंगन के प्रयोगों के बाद टमाटर और ओकरा के प्रायोगिक उत्पादन को भी बढ़ावा मिलेगा। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्देश दिये हैं कि पर्यावरण और वन मंत्रालय जैव सुरक्षा अध्ययनों को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करेगी। विश्व व्यापार संगठन के अनुबंधों के तहत यह भारत की सरकार की मजबूरी है कि वह बहुराष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिष्ठानों के हितों के संरक्षण की पहले करे।

बीटी काटन के अनुभव बताते हैं कि बीटी और गैर-बीटी बीज किसानों ने एक साथ बोये और फसल ली जबकि सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश हैं कि जीएम फसलों को समान्य फसलों से कम से कम 200 मीटर की दूरी पर रखना चाहिए और पंचायतों को इन प्रयोगों के बारे में पूरी जानकारी होना चाहिए। परन्तु सच्चाई बिलकुल उलट है। किसानों को बीटी और जीएम फसलों के संभावित दुष्प्रभावों के बारे में पूरी तकनीकी जानकारी नहीं दी जा रही है। इसके विपरीत उन्हें बताया जा रहा है कि इससे उत्पादन की मात्रा में भारी बदलाव आयेगा और कीटनाशकों के उपयोग का खर्च भी कम होगा। इसका पशुधन पर घातक प्रभाव पड़ने वाला है, क्योंकि इन फसलों के पौधे जानवर नहीं खाते हैं और यदि खाते हैं तो मरते हैं। पर यह सब उन्हें बताया नहीं जा रहा है।

एक तरफ तो सरकार हेपेटाइटिस-बी जैसी बीमारी से निपटने के लिये कार्यक्रम बना रही है तो वहीं दूसरी ओर इसी तरह की बीमारी फैलाने वाले कालीलोवर मोसियेक वायरस की बीटी बैंगन के जरिये मानव शरीर में प्रवेश कराने की अनुमति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दे रही है। यह एक षड्यंत्र है भारत की जैव विविधता को खत्म कर देने का। हमारे देश में चार हजार सालों से बैंगन का उत्पादन हो रहा है और इसकी मात्रा किसी भी तरह से कम नहीं है। बीटी कम्पनियां जिस तरह से बीजों के चरित्र और रासायनिक गुणधर्मों में परिवर्तन कर रही हैं उससे भारत में खाद्य पदार्थों और सब्जियों के प्राकृतिक बीज खत्म हो जायेंगे। हर किसान को कम्पनी के बीज पर ही निर्भर रहना होगा। बीटी बैंगन में इस्तेमाल किया जाने वाला काय1एसी जीन तितलियों को खत्म कर देता है। क्या हम भारत की रंगबिरंगी तितलियों को खत्म कर देना चाहते हैं?

चावल में बिच्छू के जीन शामिल किये गये हैं। इसी तरह अरहर, सरसों, टमाटर, मूंगफली, मक्का जैसी 50 खाद्यान्न फसलों के लिये अनुमति की मांग की गई थी, अब तक ये कम्पनियां 50 कृषि उत्पादों के लिये आवेदन लगा चुकी हैं। खाद्यान्न फसलों की तो शुरुआत भर है। ये कम्पनियां पेटेंट और एकाधिकार के नाम पर बाजार से देशी और स्थानीय बीजों पर रोक लगवा देती हैं। तब केवल उन्हीं का बीज बाजार में होता है और किसान की मजबूरी होती है कि वह हर कीमत पर इन्हें खरीदे। फिर चूंकि यह बीज जैव संशोधित बीज हैं इसलिये इन पर केवल एक विशेष प्रकार के कीटनाशकों का ही असर होता है। यह विशेष कीटनाशक भी वही

खास कम्पनी बनाती है। इसे खरीदना भी किसान की मजबूरी हो जाती है। वैश्वीकरण इसी तरह जारी रहा तो कृषि क्षेत्र से आत्मनिर्भरता जैसे शब्द ही मिट जायेंगे। अब किसान और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच नौकर और मालिक के रिश्ते होंगे और सरकारें केवल दलाल की भूमिका निभायेंगी।

भूमण्डलीकरण स्पष्ट रूप से नजर आने वाली कोई ठोस वस्तु नहीं है। यह तो एक प्रक्रिया है। खास बात यह है कि जब तक हम इस प्रक्रिया के वर्तमान पहलुओं और सिद्धान्तों को समझ पाते हैं तब तक इसका रूप बदल चुका होता है। बाजार के जरिए सत्ता को नियंत्रित करने की इस रणनीति में विकसित देशों के राजनैतिक-आर्थिक सिद्धान्तकार दुनिया के दूसरे देशों में मानव अस्तित्व को भी दांव पर लगा देने के लिए तैयार हैं। दरअसल, यह पूरा का पूरा खाद्यान्न संकट ही प्रकृति द्वारा नहीं बल्कि बाजार द्वारा रचा गया है ताकि खाद्यान्न को खुले बाजार में उतार कर मुनाफा कमाया जा सके खाद्यान्न संकट के इस आड़े वक्त में किसानों को नीतिगत संरक्षण देकर खाद्यान्न के उत्पादन की कमी को पूरा करने के बजाये किसान विरोधी नीतियाँ लागू की जा रही हैं। जैव तकनीक अब बहुत तेजी से कृषि का बाजारीकरण तो कर ही रही है मानवता पर भी संकट छा रहा है।

आपको लग सकता है कि यहां हम खेती के बदलते तरीकों और रसायनों के बढ़ते उपयोग की बात क्यों करने लगे हैं ? यह बात इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि पर्यावरण में नाइट्रोजन उत्सर्जन में बढ़ोतरी और नाइट्रोजन चक्र में हो रहे परिवर्तन ने धरती पर एक गंभीर संकट खड़ा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। खेती के उत्पादन के बढ़ाने के लिये अंधाधुंध तरीके से रासायनिक उर्वरकों का उपयोग किया जा रहा है; इससे जमीन, मिट्टी और भूजल स्रोतों पर तो दबाव बढ़ा ही है, साथ ही पर्यावरण नाइट्रोजन की प्राकृतिक मौजूदगी को दो गुना बढ़ा दिया है। इससे मानवीय स्वास्थ्य, पर्यावरण व्यवस्था और खाद्य सुरक्षा पर गहरे नकारात्मक प्रभाव पड़ने शुरू हो गये हैं। इस बिंदु को लगातार नजरअंदाज किया गया परन्तु अब हमें कृषि व्यवहार पर ध्यान देने की जरूरत है। जरूरी है कि प्रकृति के साथ सामंजस्य रखने वाली उत्पादन प्रणालियों को फिर से नीतिगत और वैधानिक रूप से अपनाया जाये।



बुंदेलखंड में सूखा

चारों तरफ फैली तपस्वियों सी अटल पर्वत श्रृंखलायें। ताल-तलैयाँ और उसके आस पास मंडराते पक्षियों के झुंड। घवजाओं से लहराते हरे भरे पेड़। बारहमासी नालों के साथ गाती गुनगुनाती काली सिंध, बेतवा, धसान, केन और नर्मदा नदियाँ...। कभी किसी कवि की मधुर कल्पना जैसी तो कभी किसी गायक की मधुमय तान सी। कभी ऐसा ही था मध्यप्रदेश का यह हिस्सा—बुन्देलखण्ड। कम पानी के बावजूद यहाँ की धरती बड़ी दयावान रही है। जरा सा प्यार से छू लो तो सोना उगलती रही है। जैसे कह रही हो— 'मेरा सब कुछ उसी का है जो छू ले मुझको प्यार से।' क्या नहीं दिया इस धरती ने; तरह-तरह के खाद्यान्न, कई किस्म के फल, तम्बाकू। सारई, सागौन, महुआ, अचार, हर्, बहेडा, आंवला, घटहर, आम, बैर, धुबैन, महलोन, पाकर, बबूल, करोंदा, समर के पेड़। कुदरत इतनी मेहरबान रही है यहां के ज्यादातर गांवों के नाम वृक्षों (जमुनिया, इम्लाई), जलाशयों (कुआँ, सेमरताल), पशुओं (बाघडबरी, हाथीसरा, मगरगुहा, झींगुरी, हिनपुरी), पक्षियों, घास—पात या स्थान विशेष के पास होने वाली किसी खास ध्वनि के आधार पर रखे गए हैं। विकास के इस दौर ने कुदरत के इस करिश्मे को बीच बाजार में खड़ा कर दिया। जो कुछ बिक सकता था वह बिकने लगा। जो कुछ लुट सकता वह सब लुटने लगा। सब कुछ लूट कर धरती को ही नंगा कर दिया हम सबने। धरती का धन लुट गया। उसकी आंचल का अमृत सूख गया। सूखे से तड़पती धरती अब दे भी तो क्या? पिछले 10 वर्षों में बुंदेलखंड में खाद्यान्न उत्पादन में 55 फीसदी और उत्पादकता में 21 प्रतिशत की कमी आई है। विकास का इतना ही फलितार्थ है यहां—सम्पन्नता से दरिद्रता तक की एक यात्रा—वह भी टुकड़ों—टुकड़ों में!

अनुपम मिश्र लिखते हैं कि बुंदेलखंड में जातीय पंचायतें अपने किसी सदस्य की अक्षम्य गलती पर दंड में प्रायः तालाब बनाने को कहती थीं। बुंदेलखंड की औसत बारिश 95 सेंटीमीटर है, जिससे यहाँ पानी की कमी बनी रहती है। यहाँ कम बारिश में पनपने वाली फसलों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए पर सरकार और कुछ बड़े

किसानों ने सोयाबीन और कपास जैसे विकल्पों के चुना। पिछले बीसेक सालों में नकदी फसलों को बढ़ावा मिला। जमीन की नमी गयी तो गहरे नलकूप खोद कर जमीन का पानी खींच कर निकाल लिया गया। भू-जल स्रोत भी सूख गये। सेंट्रल ग्राउंड वाटर बोर्ड बताता है कि बुंदेलखंड क्षेत्र के जिलों के कुओं में पानी का स्तर नीचे जा रहा है और भू-जल हर साल 2 से 4 मीटर के हिसाब से गिर रहा है। हर साल बारिश में गिरने वाले 70 हजार मिलियन क्यूबिक मीटर पानी में से 15 हजार मिलियन क्यूबिक मीटर पानी ही जमीन में उतर पाता है। पहले चेतुये (फसल की कटाई करने वाले) फसल काटकर वापस जाते समय लोकगीत गाते हुये खेत के चारों तरफ ऊँची मेंड़ बनाकर जाते थे ताकि धरती का पेट पानी से लबालब भरा रहे। धरती के गर्भ में पानी बना रहे। धरती का आंचल अन्दर बाहर से सुखने लगा तो किसान की आंखें भीग आईं। किसान बार-बार सोयाबीन उगा कर ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना चाहता था। सोयाबीन को पानी की ज्यादा जरूरत पड़ती है। कमाने की होड़ में पानी बचाने की पारम्परिक तकनीक को भी किसानों ने पीछे छोड़ दिया जिससे मिट्टी की नमी जाती रही। धरती अन्दर से भी सूख गई और बाहर से भी।

1999 से 2008 के बीच के वर्षों में यहाँ बारिश के दिनों की संख्या 52 से घट कर 23-24 दिन पर आ गई है। ऐसे में यदि 1000 मिलीमीटर बारिश हो भी जाए तो क्या पानी जमीन में उतर पायेगा, क्या तेज गति से गिरे पानी को खेतों की बाड़ें रोक पाएंगी, क्या ऐसे में भू-जल स्तर बढ़ पायेगा, नहीं! इस इलाके के मुख्य समस्याएँ जल, जंगल और जमीन से जुड़ी हुई हैं, जो कभी उसकी ताकत हुआ करती थीं। यहाँ की जमीन उपजाऊपन खो रही है। इसे उपजाऊ बनाने रखने की जरूरत है, पर ऐसा ना करके सरकार पड़त भूमि को खनिज खदानों और सीमेंट के कारखानों के लिए बाँट रही है। सीमेंट के कारखाने केवल अपनी जमीन का ही उपयोग नहीं करते हैं बल्कि आसपास के सैंकड़ों एकड़ जमीन को बर्बाद कर देते हैं, इससे बीमारियाँ भी बढ़ती हैं। दालों के उत्पादन को सरकार ने बढ़ावा नहीं दिया, जो कि शायद बुंदेलखंड के लिए एक अच्छा साधन और विकल्प हो सकता था, क्योंकि धान की तुलना में इसमें केवल एक तिहाई पानी ही लगता है।

इस साल (2009 में) टीकमगढ़ (-56 फीसदी कम बारिश), छतरपुर (-54 फीसदी कम बारिश), पन्ना (-61 फीसदी कम बारिश), सागर (-52 फीसदी कम बारिश), दमोह (-61 फीसदी कम बारिश), दतिया (-38 फीसदी कम बारिश) सहित पूरा बुंदेलखंड अब तक के सबसे पीड़ादायक सूखे की चपेट में है। यह चेता रहा है कि सत्ता और समाज को अपनी विकास की जरूरतों और सीमाओं को सीमित कर, संयम रखे। सरकार पर निर्भरता सूखे को और विकराल बना रही है। ऐसे औद्योगिकीकरण को तत्काल रोकने की जरूरत है जो पर्यावरण के चक्र को आघात पहुंचाता हो। यह तय किया जाना जरूरी है कि भू-खनन, निर्वनीकरण और वायु मंडल में घातक गैसों छोड़ने वाले उद्योगों (जैसे सीमेंट के उत्पादन से मिथेन का

उत्सर्जन होता है), की स्थापना नहीं की जायेगी, और तत्काल वन संवर्धन और संरक्षण का अधिकार समुदाय को सौंपा जाएगा।

भारत सरकार के सिंचाई एवं विद्युत मन्त्रालय के सन् 1985 के आंकड़ों के मुताबिक बुन्देलखण्ड में बारिश का 131021 लाख घन मीटर पानी हर साल उपलब्ध रहता है। इसमें से महज 14355 लाख घन मीटर पानी का ही उपयोग हो पाता है, बाकी का 116666 लाख घन मीटर बिना उपयोग के ही चला जाता है यानी पूरी क्षमता का 10.95 प्रतिशत ही उपयोग में लिया जाता है। आज भी स्थिति यही है। इसके लिए बुंदेलखंड की पुरानी छोटी-छोटी जल संवर्धन संरचनाओं के पुनर्निर्माण और रख-रखाव की जरूरत थी, जिसे पूरा नहीं किया गया। इसके बजाये बुंदेलखंड में 15 बड़े बाँध बना दिए गए जिनमें गाद भर जाने के कारण उनकी क्षमताओं का 30 फीसदी हिस्सा ही उपयोग में आ रहा है। इस इलाके के 1600 खूबसूरत ऐतिहासिक तालाबों में से अभी केवल 40 ही बेहतर स्थिति में हैं। आंकड़ों की जुबान में बार-बार यह कहा जाता है कि लाखों मिलियन लीटर पानी बेकार बह जाता है। हमें अपने आप से यह सवाल पूछना चाहिए कि यदि यह पानी बह कर समुद्र में नहीं जाएगा तो समुद्रों का क्या हश्र होगा। जिस तरह का जल प्रबंधन सरकारें कर रही हैं, उससे नदियों का पानी या तो सूख रहा है (नर्मदा, सोन), या बाढ़ें आ रही है (कोसी)। जहाँ पानी सूख रहा है, वहाँ समुद्र अपना पानी प्रवाहित करने लगा है, जिससे नर्मदा जैसी नदियों का पानी खारा हो रहा है। बाढ़ तो तबाही मचा ही रही है। सूखा केवल प्रकृति के व्यवहार से उपजी हुई स्थिति नहीं है, यह मानवीय समाज की असंयमित और गैर-जवाबदेय विकास की प्रक्रिया का परिणाम भी है।

मझौरा की महिलाओं को गांव के पास सवा तीन सौ फिट पहाड़ी के नीचे उतरकर एक कुण्ड में पानी लेने जाना पड़ता है। इस कुण्ड में बस इतना ही पानी रहता है कि साल भर में 10 माह छोटे बर्तन या कटोरी से भर-भरकर वे पानी इकट्ठा करते हैं। पानी भी ऐसा कि हजारों की संख्या में छोटे-छोटे कीड़े तैरते हुए नंगी आंखों से देखे जा सकते हैं। मझौरा के लोग भी देखते हैं और कीड़े देखकर भी उसी पानी को पीते भी हैं। करें भी तो क्या करें। जुलाई 2009 में इस पानी को पीने से हैजा फैला। सोमवती की हैजे से मौत हुई, 48 लोग अस्पताल तक पहुंचे, अब भी 6 लोग बीमार हैं। यहां नरेगा के तहत केवल एक कुआं खोदा गया है, जिसमें बारिश में कुछ दिन पानी रहता है। वह भी पीने लायक नहीं है। बताया जाता है कि यहां तीन साल में 40 लाख रुपये खर्च हुए पर पीने को पानी नहीं मिला। गौरीशंकर यादव कहते हैं इस भारी विपदा के वक्त भी सरकार साथ नहीं दे रही। आज गांव का हर छोटा-बड़ा किसान भी रोजगार चाहता है। कई मर्तबा मांगा भी पर काम न मिला। 'हम तो आजीविका के खुद के साधन चाहते हैं, इसलिये खेती पर खूब जोर मारते हैं' मझौरा का हर व्यक्ति यही कहता है। इसी गांव के बिंद्रावन ने अपनी 4 एकड़ जमीन के लिये 3500 रुपये के बीज, 2400 रुपये के कीटनाशक और 3500

रुपये के उर्वरक उधारी में लिये थे। एक रुपये का उधार लेने का मतलब है 2 रुपये चुकाना। इन तीन महीनों में न तो खेत उगे, न दूसरे विकल्प से आय हुई।

काश! बुंदेलखंड खुद को गढ़ पाता!

बुंदेलखंड ने अपना इतिहास आप गढ़ा है। यही एक मात्र ऐसा इलाका था जो मुगल साम्राज्य के अधीन नहीं रहा, क्योंकि प्राकृतिक संसाधनों और बुनियादी जरूरतों जैसे अनाज, पानी और पर्यावरण के मामलों में यह आत्मनिर्भर राज्य था। इसी आत्मनिर्भरता ने बुंदेलखंड को स्वतंत्र रहने की ताकत दी। इतना ही नहीं, इसी ताकत के दम पर यह इलाका अकबर के साम्राज्य में भी शामिल नहीं हुआ।

अगर बुंदेलखंड को अपने बारे में सोचने और अपने विकास की रूपरेखा गढ़ने की स्वतंत्रता मिल जाए तो सूखा भी एक बार फिर हरा हो सकता है। बुंदेलखंड पहले भी प्रकृति के प्रकोपों से जूझता रहा है। पानी का संकट वहां इसलिए रहा कि वहां कि भौगोलिक और जमीनी स्थितियां पानी, बारिश के पानी को टिकने नहीं देती हैं। वहां जमीन में पत्थर भी है और कुछ इलाकों में अच्छी जमीन भी। बुंदेलखंड के समाजों और राजसत्ता ने इसी वजह से तालाबों के निर्माण को तवज्जो दी और ऐसी फसलों को अपनाया जिनमें पानी कम लगता है। टोपोग्राफी ऊँची-नीची होने के कारण जब तालाब बनाने शुरू किये गए तो ऊपर के तालाबों को नीचे के तालाबों से नालीनुमा नहरों से ऐसे जोड़ा गया जिससे जब ऊपर के तालाब भर जाए तो पानी उन नालियों के जरिये नीचे के तालाबों की ओर बह कर चला जाए। इससे कम बारिश के पानी का भी अधिकतम उपयोग हो पाता था। बुंदेलखंड का समाज विपरीत परिस्थितियों में जीना सीख चुका था। जल स्रोतों के आसपास ही सभ्यताएं पनपी हैं, जीवन आगे बढ़ा है। जहाँ पानी का खूब अच्छा प्रबंधन हुआ वहां समाज का भी सार्थक विकास हुआ। बुंदेलखंड इसका एक सशक्त और सटीक उदाहरण है।

तीस लाख हेक्टेयर क्षेत्र में फैले बुन्देलखण्ड में कुल छह लाख हेक्टेयर जंगल है, 24 लाख हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि है। मात्र चार लाख हेक्टेयर भूमि की ही सिंचाई हो पा रही है। खेती के विकास के लिए सिंचाई की ऐसी योजनायें नहीं बनाई गईं जिनका प्रबंधन कम खर्च में समाज और गाँव के स्तर पर ही किया जा सके। बड़े-बड़े बांधों की योजनाओं से 30 हजार हेक्टेयर उपजाऊ जमीन बेकार हो गई। ऊँची लागत के कारण खर्चे बढ़े। फिर भी ये बाँध कभी भी दावों के मुताबिक परिणाम नहीं दे पाए। मध्यप्रदेश में कुल क्षेत्र के 20 फीसदी इलाके में जंगल है, परन्तु बुंदेलखंड के केवल 8 फीसदी इलाके में जंगल है। यहाँ वन क्षेत्र बढ़ाने के बजाये ऐसे उद्योगों के बढ़ावा दिया जा रहा है, जो जंगल को बर्बाद कर देंगे और बचे-खुचे पानी के स्रोतों का विनाश कर देंगे। कम क्षेत्र में जंगल होने के कारण धरती की सतह की उपजाऊ भूमि लगातार बहती गई और जमीन पथरीली होती गई। इसे फिर से पैदा करने की जरूरत है। बुंदेलखंड की परिस्थितियों में भू-जल

स्रोतों का अधिक दोहन बिल्कुल उपयुक्त नहीं है। यह विनाश का कारण हो सकता है। फिर भी यहाँ नलकूपों के जरिये इसका खूब दोहन किया जा रहा है। मध्यप्रदेश में 5 वर्ष में एक बार साधारण सूखा पड़ना स्वाभाविक है, परन्तु बुंदेलखंड में पिछले 9 वर्षों में 8 बार गंभीर सूखा पड़ा है। कारण साफ है जलवायु परिवर्तन ने बुंदेलखण्ड को सूखे रहने की सजा दी है।

बीहड़ बनता बुंदेलखण्ड

बीहड़ों की समस्या मध्यप्रदेश में पहले से ही रही है। सरकार का भी जमीन को बीहड़ में बदलने में कम योगदान नहीं है। बीहड़ होने का मतलब है कि ऐसी जमीन को सरकार अनुपजाऊ घोषित कर सकती है। बीहड़ बनती जमीन कृषि और जंगल की जमीन की परिभाषा से बाहर हो जाती है। सरकार उसका कुछ भी कर सकती है। ग्राम सभा से इजाजत लेने की भी जरूरत नहीं होती। कॉरपोरेट कम्पनियों के लिए जमीन जुटाने में जुटी सरकार को आजादी मिल जाती है इसे बेचने की। चम्बल के इलाकों, खास तौर पर मुरैना की हजारों हेक्टेयर जमीन को सरकार ने बड़ी कम्पनियों को सौंपना शुरू कर दिया है। यही प्रक्रिया बुंदेलखंड में भी शुरू हो चुकी है। केंद्र और राज्य की सरकारें समुद्र और पहाड़ों से जमीन निकालने की योजनायें बना रही हैं, परन्तु मध्यप्रदेश में जमीन को बीहड़ होने से बचाने की कोई कार्ययोजना दिखाई नहीं देती जबकि इन जमीनों को समतल करना और उपजाऊ-उपयोगी बनाना आसान है।

चम्बल के बीहड़ों में लाखों एकड़ जमीन की बर्बादी ने ही कई सामाजिक और आर्थिक समस्याएं पैदा की हैं, जिनसे हम निपट नहीं पा रहे हैं। नदी और जल स्रोतों की सीमाओं से सटे क्षेत्रों में बीहड़ बढ़ता है। बुंदेलखंड में जंगल, जमीन पर घास, गहरी जड़ें ना होने की कारण तेज गति से गिरने वाला पानी बीहड़ पैदा कर रहा है। पिछले 20 वर्षों में यहां खूब भू-क्षरण हुआ है। बुंदेलखंड में छतरपुर के आस-पास और केन-धसान नदी के बीच 1.05 लाख एकड़ के क्षेत्र में जमीन बीहड़ का रूप लेती जा रही है।

पन्ना जिले में 50000 एकड़ जमीन बीहड़ हो रही है, टीकमगढ़ में 12000 एकड़ में बीहड़ जम रहा है। दतिया में 70000 एकड़ और दमोह में 62000 एकड़ जमीन बीहड़ों की चपेट में आती दिख रही है। ऐसा लग रहा है कि बीहड़ का यह विस्तार बुंदेलखंड को चंबल की घाटियों से जोड़ देगा। तब सरकार के लिये यह विकास का नहीं, कानून-व्यवस्था का मसला होगा और आदिवासियों को बेदखल करना और आसान हो जाएगा। बुंदेलखंड के इस बीहड़ीकरण के कारण 471 गांव के सामने अस्तित्व का खतरा खड़ा हो गया है। ऐसा हो रहा है क्योंकि विकास की नीतियाँ स्थानीय समुदाय और प्रकृति से सामंजस्य बिठाये बिना बनाई और लागू की जा रही हैं।

बदहाली का नाम पलायन!

बुंदेलखण्ड के छतरपुर इलाके के किसी भी बस अड्डे और रेल्वे स्टेशन पर 5 से 25 लोगों का समूह सिर पर सफेद बोरी लादे, बिस्तरों का बंडल बांधे दिख जायेगा। साथ में महिलायें भी होती हैं। उनकी गोद में होते हैं छोटे-छोटे बच्चे। गांव में बेराजगारी और सूखे के अलावा कुछ भी नहीं बचा है। सो, बाल-बच्चों सहित चल पड़े हैं एक अनजान दुनिया में जहां इनकी कोई पहचान नहीं होगी। अब कल के गौरवान्वित किसान आज मजदूरी की तलाश में दर-दर भटकेंगे। बस स्टैंड पर बस संचालन की व्यवस्था करने वाले अजय नायक बताते हैं कि 20 अगस्त के बाद से हर रोज 8 से 10 हजार लोग जिले से पलायन करके दिल्ली या दूसरे महानगरों की ओर जा रहे हैं। इनके नाम, जाति और गांव अलग-अलग हो सकते हैं पर इनकी कुण्डली में एक ग्रह बैठ गया है जिसे हम कहते हैं पलायन-वह भी बदहाली में, मजबूरी में। स्वेच्छा या अपनी इच्छा से नहीं।

गांव में जीविका और रोटी के विकल्प खत्म हो जाने के बाद जीवन बचाने के लिये अब यही एक ही रास्ता बचा है— पलायन का। बहरहाल जिले के कलेक्टर ई. रमेश कुमार इस बात से इत्तेफाक नहीं रखते हैं कि इस जिले से मजदूर और किसान बदहाली के कारण पलायन करके जा रहे हैं। उनके मुताबिक “लोग बेहतर अवसरों के लिये पलायन कर रहे हैं। मैं भी तो इसीलिये अपने गृहराज्य आंध्रप्रदेश को छोड़कर मध्यप्रदेश आ गया।” विश्व बैंक भी यही कहता है कि पलायन कोई बुरी अवस्था नहीं है। वे तो विकास के रास्ते पर चल पड़े हैं जंगलों की दुनिया छोड़ जगमगाते महानगरों की ओर। वे यह जानना ही नहीं चाहते कि किसका विकास और किसका पलायन, किसकी मर्जी, किसकी मजबूरी, कैसा विकास और किसकी कीमत पर। यहां से जाने वाला हर परिवार देश के किसी भी कोने में पलायन करके जाये, उसके साथ गेहूं-आटा की बोरी जरूर होती है। दिल्ली पहुंचकर भी वे कब रोजगार पा सकेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं होता है। तब तक महिलायें, बच्चे क्या खायेंगे इसके लिये 15 दिन का अनाज साथ रखना जरूरी है। सारे के सारे अपने साथ यह रसद भी वहां ले जाते हैं? गुरवा अहिरवार के दोनों बेटे और बहू (लखन, पप्पू और सील्ता) जब जुलाई में दिल्ली जाने की तैयारी कर रहे थे तो उनकी सामान में रसद नहीं था। इनके पास इतना पैसा भी नहीं था कि वह तीन लोगों के लिये पचास किलो गेहूं की जुगाड़ कर पाता। गुरवा के नौजवान बच्चे तो बस दो दिन की रोटी और नमक की पोटली लेकर जिंदगी की लड़ाई लड़ने गांव से निकल गये। जब रोटी-गेहूं की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी तो टिकट कहां से आता? उनके खुद के गांव अकोना में तो कोई कर्ज देने को भी तैयार न था। कर्ज वापस आ पायेगा, इसमें देनदारों को अब गहरी शंका है। जो कर्ज उन्होंने लिया है इस पर उन्हें एक माह में पांच प्रतिशत की दर से सूद देना होगा। सूद हर माह जुड़ता है और मूल का हिस्सा बनता जाता है। इसका मतलब है कि उन्हें 75 प्रतिशत की दर

से सालाना ब्याज देना होगा। आठ लोगों के इस परिवार के हिस्से में सवा एकड़ जमीन है, वह भी बंजर।

रोजगार गारण्टी योजना दुनिया की सबसे बड़ी रोजगार गारण्टी योजना कहलाती है। देश में गांव के हर परिवार को रोजगार की कानूनी गारण्टी देता है यह कानून। गुरवा अहिरवार के परिवार ने भी छह महीने पहले इस नरेगा में 40 दिन की हाड़-तोड़ मजदूरी की थी पर अब तक उन्हें मेहनताना नहीं मिल पाया है। इतना ही नहीं, पिछले 8 महीनों में अकोना गांव में एक भी नया काम नरेगा के तहत शुरू नहीं हुआ है। गुरवा की बुजुर्ग हमसफर रतिया बाई कहती हैं कि यदि हमें गांव में ही मजदूरी मिलती तो लड़के-बच्चे अनाथों की तरह पलायन करने के लिये मजबूर नहीं होते। दिल्ली में कोई सुख थोड़े मिलता है। वहां भी कुल सौ-डेढ़ सौ रुपये की मजदूरी मिलती है, वह भी महीने में 15 से 17 दिन की। क्या इससे गुजारा संभव है? हमारे लिये उन्हें वहां खुले आसमान के नीचे सोना पड़ता है, बारिश में भीगना पड़ता है, भारी सामान लेकर एक जगह से लेकर दूसरी जगह तक कई किलोमीटर भटकना पड़ता है। वहां कोई हमारे रिश्तेदार थोड़े रहते हैं; वहां तो जो ठेकेदार दिलवा दे, वही सबसे बड़ा सहारा होता है। रतिया बाई को नहीं पता है कि दिल्ली में उनके बच्चे कहां हैं और क्या काम करते हैं? किसी आस-पड़ोस वाले के फोन पर कभी वे बात कर लेते हैं जिससे पता चल जाता है कि बच्चे जिंदा हैं! दोनों बुजुर्गों की आँखों में आंसू आ जाते हैं यह कहते हुये कि इस बार तो ये सब दशहरे-दीवाली पर भी घर न आ पायेंगे।

यह पलायन उन्हें परिवार, गांव, संस्कृति और अपने परिवेश से दूर कर देता है। आजीविका की असुरक्षा, सूखे और सरकारी तंत्र की नाकामी ने पलायन की व्यवस्था में बड़ा बदलाव ला दिया है। गुरवा के परिवार वाले पिछले 7-8 सालों से पलायन करने लगे हैं। पहले साल ये केवल सवा महीने के लिये गये थे। फिर वर्ष 2005 में 3 महीने के लिये दिल्ली-गुड़गांव गये। पिछले साल तक ये जोड़-घटाकर यह तय करते थे कि कब शहर जाना है, पर इस साल लखन-पप्पू जुलाई में ही चले गये और उनकी वापसी होगी अगले साल अप्रैल-मई में। उनका पलायन अब स्थाई रूप लेने वाला है।

सूखे ने यहां के गांवों का न केवल आर्थिक तंत्र बिगाड़ दिया है बल्कि सामाजिक ढांचे को भी तहस-नहस करने की शुरुआत कर दी है। आर्थिक असुरक्षा के कारण “श्रम करने में सक्षम” लोग गांव से चले जाते हैं और “असक्षमों” के नाम पर बुजुर्गों को छोड़ जाते हैं, भीगी आँखों में बच्चों की वापसी के इंतजार का सपना लिये हुये।

इस साल पांच हजार रुपये का कर्ज लेकर उसने अपनी छोटी सी जोत में तिली और उड़द बोई थी। छतरपुर के बक्सवाहा ब्लॉक में जून के आखिरी सप्ताह में थोड़ा पानी गिरा था। फिर थोड़ी बूँदा-बांदी जुलाई में हुई। इसके बाद जब

आसमान में पानी के बादल छाये तब तक अगस्त का आखिरी सप्ताह आ चुका था। इस दौरान गुरवा और रतिया ने मौसम के रुख को समझ लिया और यह उम्मीद छोड़ दी कि अब खेत उन्हें कुछ वापस देगा। इस नाउम्मीदी में उन्होंने बुआई के बाद घास-चारा-खरपतवार निकालने के लिये निंदाई भी नहीं की और कीटनाशक भी नहीं छिड़का। आखिर इसके लिये भी तो खर्च करना पड़ता। यह जोखिम उठाने की स्थिति में वे नहीं थे। जब अगस्त के आखिरी सप्ताह में बारिश हुई तब तक तिली-उड़द की पत्तियों में इल्लियां छेद कर चुकी थीं और घास-खरपतवार फसल से ज्यादा ऊंची हो चुकी थी। यह बची-खुची एक छोटी सी उम्मीद के टूटने का वक्त है। सवा एकड़ की बंजर जमीन के इस मालिक के ऊपर 55 हजार रुपये का कर्ज है।

यह दलित परिवार कहता है कि “यह कर्जा छाती पर कई मन के वजन की तरह आसन जमाकर बैठ गया है। एक-दो नहीं, 5 गांवों के 11 लोगों से कर्ज लिया है। अब यह कभी नहीं चुक पायेगा और हमें कर्जदार की मौत मरना होगा। सरकार ने जॉब कार्ड दिये तो थे पर वे पूरी तरह से खाली पड़े हुये हैं क्योंकि अकोना पंचायत के सरपंच और सचिव ने 18 लाख रुपये का गबन कर लिया है। छह माह से लोग संघर्ष कर रहे हैं पर सरकार है कि सुनने को तैयार नहीं।”

बुंदेलखण्ड के गांवों में अब ज्यादातर बूढ़े-बुजुर्ग ही दिखाई देने लगे हैं। जवान लोग तो जिन्दगी की तलाश में शहरों के चक्रव्यूह में आ फंसे हैं। गुरवा के घर के पास ही 65 साल की सुनिया अहिरवार भी अपनी झोंपड़ी में अकेली रह गई है। उनके दोनों लड़के और बहुयें भी रोजगार की तलाश में मई में दिल्ली चले गये थे। उनके साथ तीन-तीन महीने के दो बच्चे भी हैं। वे अभी से ही संकट, गरीबी और शोषण के बीच जिन्दगी के अर्थ समझेंगे। सुनिया का परिवार भूमिहीन है। उन्हें भी सरकार से रोजगार गारण्टी योजना का जॉब कार्ड मिला है परन्तु तीन साल बाद भी वह पूरी तरह से खाली पड़ा हुआ है। उनके लड़कों दयाली और बल्ली ने 26 दिन इस योजना में काम किया था पर सात महीने बाद भी उनका मेहनताना नहीं मिला। सुनिया की आंखें भी यह बताते हुये भर आती हैं कि हम पर 65 हजार रुपये का कर्ज है और ब्याज दर उतनी ही पड़ती है यानि 75 प्रतिशत सालाना।

हरदीना अहिरवार को अपनी पोती जुनका की बहुत याद आती है। अब वह 6 महीने की हो चुकी होगी। जब उनके तीनों बेटे और हरदीना की पत्नी रोजगार की तलाश में दिल्ली गये थे तब वह 2 महीने की थी। यूं तो उनके परिवार में 7 सदस्य हैं पर चार महीने से हरदीना अकेले रहते हैं। वह गांव में ही मोची का काम करते हैं। अब 67 साल की उम्र में कुछ ज्यादा कर भी तो नहीं पाते। भूमिहीन हैं, आजीविका का कोई साधन नहीं है, फिर भी सरकार ने उन्हें गरीब नहीं माना। हम उनके साथ बैठे और जिन्दगी का हिसाब लगाया तो पता चला कि उनका पूरा परिवार साल भर में हर रोज एक सदस्य पर साढ़े सात रुपये खर्च करने लायक कमा पाता है पर उन्हें

सस्ते राशन के लिये पात्र नहीं माना गया। रोटी, दवाई, खेती, पलायन का खर्च सब कुछ उन्हें कर्जदार बना रहा है।

अकोना में नरेगा के तहत 13 कपिलधारा के कुएं आवंटित किये गये। कानूनन इस योजना के तहत गांव के लोगों पर कोई आर्थिक बोझ नहीं आना चाहिये। फिर भी अपने खेतों में कुएं खुदवाने के लिये 10 परिवारों ने 43 हजार रुपये की रिश्त पंचायत सचिव को दी। इतना ही नहीं, पंचायत ने कुएं खुदवाना तो शुरू कर दिये पर मजदूरों को मेहनताना नहीं दिया। जब 7 महीने तक मेहनताना नहीं मिला तो उन्होंने उन गांव वालों पर दबाव बनाना शुरू कर दिया जिनके खेत कपिलधारा कुओं के लिये चुने गये थे। इस दबाव के चलते इन हितग्राहियों को खुद के निजी खाते से मजदूरों को मेहनताना देना पड़ा। लल्लू अहिरवार के पास पांच एकड़ जमीन थी। जब कपिलधारा का कुआं बना तो उन्होंने मजदूरों को मेहनताना देने के लिये 45 हजार रुपये का कर्ज लिया। जब कर्ज बढ़ने लगा और नरेगा से राशि का भुगतान नहीं हुआ तो उन्होंने 50 हजार रुपये में अपनी एक एकड़ जमीन बेचकर कर्ज चुकाया। कुआं भी अधूरा पड़ा हुआ है और जमीन भी आधी हो चली पर कर्ज दोगुना हो गया।

परमा प्रजापति ने भी जब कपिलधारा के कुएं की मांग की तो 10 हजार रुपये की रिश्त की पहली किश्त अग्रिम के तौर पर मांगी गई। परमा की पत्नी मुन्नी बाई ने अपने परिवार की पूरी चांदी और बर्तन बेच कर रिश्त की यह पहली किश्त दी। जाहिर है संकट और गहरा गया। रकम तो गई ही, कुआं भी विवाद में फंस कर रह गया। इस गांव के 110 किसानों की खेती, जिसमें तिल, उड़द और सोयाबीन बोई गई थी वह सूखे के कारण घास, खरपतवार और इल्लियों की चादर से पट गई है। यह सवाल उन्हें चुभता है कि खेत में घास और खरपतवार कैसे हो गई, इसे तो किसान उखाड़ फेंकता है? बूटा कहते हैं कि अगर उम्मीद बंधती कि अन्न हो पायेगा तो निंदाई करके उखाड़ देते। जब अन्न की उम्मीद ही नहीं दिखी तो न तो निंदाई पर ऊर्जा खर्च की न ही कीटनाशक पर पैसा; इसीलिये खेतों की यह हालत हो गई। वहां के 70 हजार परिवार रोजगार की तलाश में दिल्ली और गुड़गांव जा चुके हैं। उनमें से हर एक को दो से तीन हजार रुपये का कर्ज लेना पड़ा। जटाशंकर के काशी 2 सितम्बर 2009 को मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले के बस स्टैंड पर दिल्ली जाने वाली बस का इंतजार करते हुए मिले थे। उनके साथ परिवार के पांच और लोग भी थे। उनमें छह माह की नन्हीं सी कुसुम भी शामिल हैं। जा तो रहे हैं रोजगार की तलाश में पर वे यह नहीं जानते हैं कहां क्या रोजगार मिलेगा। मिलेगा भी या नहीं। यदि उन्हें नरेगा के तहत गांव में ही मजदूरी मिल पाती तो वे इस कर्ज के चक्रव्यूह से एक हद तक बच जाते। सूखे के संकट से जूझ रहे इस गांव के 187 परिवारों ने नरेगा में काम किया था। इनमें से 113 परिवारों को बिलकुल मजदूरी नहीं मिली जबकि 68 परिवारों को थोड़ी-बहुत राशि

दे दी गई। 6 परिवारों के पास चूँकि जॉब कार्ड ही नहीं है तो उनका काम का अधिकार भी सुनिश्चित नहीं हो पाया। यहां किसान से मजदूर और मजदूर से वंचित समुदाय और वंचित समुदाय से पलायन के बाद अस्तित्वहीन हो रहे समाज की यात्रा को खुली आंखों से देखा जा सकता है। फिर भी जिले में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना के सही और उपयोगी क्रियान्वयन के लिये जिम्मेदार कलेक्टर कहते हैं कि “नरेगा एक मांग आधारित योजना है, यदि मांग आयेगी तो सरकार जरूर पूरा करेगी।”

यहां हरियाली की चादर के नीचे छुप कर गुम हो रहा एक सूखा हुआ गांव है—मझौरा। फटी और दरार पड़ी धरती, मरे पड़े जानवरों का ढेर, दरके हुये खेत पर उकड़ू बैठकर आसमान की ओर सूनी आंखों से ताकते हुये किसान इसकी पहचान बन गए हैं। मझौरा में लगभग 172 परिवार हैं जिनमें से 151 परिवार खेती से अपनी जरूरतों के बड़े हिस्से को पूरा करते हैं। मझौरा के बूठा अहिरवार के पास दो एकड़ का खेत है। उससे 3 सौ मीटर दूर ही एक तलैया है। पिछले 8—9 सालों में इस तलैया ने दम तोड़ दिया। बूठा इस दो एकड़ की जमीन में बहु-फसली पद्धति से खेती करते रहे जिनमें वे उड़द, सोयाबीन और तिली बोई गई। वे मानते हैं कि एकल फसल में बर्बादी की संभावना ज्यादा होती है। पहले वे खेत के इस टुकड़े में 5 क्विंटल उड़द, 15 क्विंटल सोयाबीन और 40 किलो तिली की पैदावार लेते थे। इससे उनके परिवार की 9 महीने की जरूरतें पूरी होती रही हैं। इस साल न तो एक दाना उड़द का मिला, न सोयाबीन का और न ही तिल का। पूरे खेत में समा, धमो, गठुआ और गाडर गूढ़ी उग आई है। इसमें चारा घास भी है परन्तु वह चारा घास खरपतवार के बीच ऐसी फंसी है कि गाय, बैल, भैंस भी मुंह नहीं लगाते। जानवर भी खरपतवार नहीं खाते हैं।

जब पानी गिरना शुरू हुआ तब तक खेती के सुधरने, पनपने की संभावनायें खत्म चुकी थीं। इस खेत को खेती के लिये तैयार करने और बीज वगैरह की व्यवस्था करने में उन्होंने 10 हजार रुपये खर्च कर दिये थे, इस लागत में से अब उन्हें 10 रुपये भी नहीं मिलेंगे। बूठा के परिवार के दूसरे सदस्य हरिनारायण अहिरवार कहते हैं कि अब तो इस खेत में आग लगाकर ही सफाई करना होगी। इससे रबी में भी कोई मदद मिलने की उम्मीद नहीं है क्योंकि तब सिंचाई के लिये बिजली चाहिये होती है, जो कि इस गांव के एक भी परिवार को सिंचाई के लिये नहीं मिलती है। अब अगले साल की बरसात का इंतजार बस यही एक चारा है। यदि अगली बार सूखा नहीं पड़ा तब तो ठीक, पर यदि फिर सूखा पड़ गया तो ? वे कल्पना भी नहीं करना चाहते। बूठा पर 50 हजार और हरिनारायण पर 60 हजार रुपये का कर्ज है। “अब हमें अपनी जिन्दगी के लिये तो कमाना ही है पर इससे चार गुना ज्यादा कमाना पड़ेगा कर्ज का ब्याज चुकाने के लिये” दोनों यही बोलते हैं। खेती में उत्पादन की घट-बढ़ तो होती ही रहती है पर पिछले 10 सालों से खेती में घाटा

ही घाटा हो रहा है एक तरफ लागत बढ़ रही है तो दूसरी तरफ महंगाई। मौसम के उतार-चढ़ाव अलग। इसने 10 साल में हमें पूरी तरह से निचोड़ लिया है। पहले सोचते थे कि इस बार पैदावार कम हुई तो ठीक है अगली बार सुधार लेंगे। अब तो सवाल है कि अगली बारी तक जिन्दा कैसे रहें? रोजगार गारण्टी ने उन्हें रोजगार की गारण्टी तो नहीं पर पीड़ा की गारण्टी जरूर दी है। बूठा उन 10 परिवारों में से एक मात्र दलित हैं, जिन्हें कपिलधारा के कुयें मिले परन्तु साल भर गुजर जाने के बाद कुएं के नाम पर उनके खेत में एक गड़ढा खुदा पड़ा है। इसके लिये आवंटित 1.35 लाख रुपये में से महज 40 हजार रुपये खर्च किये गये। बाकी का पता नहीं। लोग तो मजदूरी मांगते-मांगते थक गये। यदि कुछ दिन रोजगार मिल भी जाता है तो कई महीनों तक मेहनताना नहीं मिलता।

गढ़कुंठार के ऐतिहासिक किले के करीब है टीकमगढ़ जिले की ढीमरपुरा पंचायत। यहां के लोगों का पुश्तैनी धंधा मछली पकड़ने का रहा है। 127 हेक्टेयर में फैला विशाल सिंदूरसागर तालाब भी सूख गया है। यह तालाब 100 से ज्यादा परिवारों की आजीविका का मुख्य साधन रहा है। यहां पलने वाली रोहू, कतला, बावस और झींगा मछली हावड़ा-कलकत्ता के बाजारों में अपने खास स्वाद के लिये विख्यात रही। इस साल 170 परिवारों वाले इस गांव के 48 घरों पर बारिश के मौसम में ताले लटक रहे हैं और 67 परिवारों के दो-दो या तीन-तीन सदस्य पलायन कर चुके हैं। जिन्दगी देने वाला तालाब ही सूख गया तो लोग दिल्ली, चण्डीगढ़ और गुड़गांव की सड़कों के हो लिए। पहले 5 बसें दिल्ली जाती थीं अब 14 जाती हैं।

शंभूदयाल ढीमर के परिवार के सभी बीसों सदस्य पिछले साल रोजगार के लिये दिल्ली गये थे। दो महीने पहले बुजुर्ग शंभूदयाल और उनकी पत्नी वापस गांव आ गये। पहले वे साल में दो तीन माह के लिए जाते थे, अब पता नहीं होता कि लौटेंगे या नहीं। शंभूदयाल के दोनों लड़के रामेश्वर और पूरणलाल भी अब शायद ही गांव वापस लौटेंगे। इस गांव से 12 परिवार पलायन पर जाकर पिछले दो साल से नहीं लौटे हैं। यहां के 150 परिवारों के जॉब कार्ड पिछले 2 सालों से सरपंच के नियंत्रण में है। मध्यप्रदेश राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी परिषद् के दखल के बावजूद भी ढीमरपुरा के लोगों को उनके जॉब कार्ड वापस नहीं मिल पाये। जाहिर है सरकार का दखल दमदार नहीं रहा। ऐसा लगता है कि सरकार जानबुझ कर यह कर रही है। गांवों में सामान्य और संकटकालीन परिस्थितियों में स्थानीय विकल्पों (खासतौर पर आजीविका के संदर्भ में) को संरक्षण प्रदान मत करो; लोग अपने आप अपने जल, जंगल और जमीन को छोड़कर भाग जायेंगे। शहरों को सस्ता श्रम मिलेगा, कम्पनी जगत को सस्ती जमीन।

गांव-घर पीछे छूट गये...

पलायन की पीड़ा प्रसव पीड़ा से कम नहीं है। गरीबी और भूख का समाधान खोजने

के लिये वे पलायन की राह पकड़ते हैं। सबसे पहले यात्रा का खर्च उठाने के लिए कर्ज लेते हैं। बुंदेलखण्ड का पलायन करने वाला ऐसा कोई परिवार नहीं है जिसे 2 से 5 हजार रुपये का कर्ज न लेना पड़ा हो और इस कर्ज की ब्याज दर होती है 5 प्रतिशत प्रतिमाह। फिर जद्दोजहद होती है गांव से शहर जाने के लिए साधन ढूंढने की। छतरपुर बस अड्डे पर बसों की आवाजाही का प्रबंधन करने वाले यूसुफ खान बताते हैं कि यहां से (छतरपुर से) जाने वाली ज्यादातर बसों का परमिट केवल ग्वालियर तक होता है किन्तु बस संचालक इन परिवारों को वे 'दिल्ली जायेंगे' कहकर बस में बिठा लेते हैं और पूरा किराया वसूल लेते हैं। फिर ग्वालियर पहुंचकर किसी भी बस में चढ़ जाने को कहते हैं। वे बसें खचाखच भरी होती हैं। पिछले एक महीने से जो बसें जा रही हैं उनकी वास्तविक क्षमता 36 से 44 यात्रियों की होती है पर पलायन के दौरान इन बसों में 110 से 130 यात्री होते हैं। इन मजबूर परिवारों की मजबूरी से भी लाभ कमाने से ये भी नहीं चूकते।

दिल्ली के बस अड्डे या रेल्वे स्टेशन पर पहुंचते ही वहां मजदूरों के ठेकेदार मिलते हैं और इनकी जिंदगी का ठेका ले लेते हैं। कोई भी ठेकेदार एक निश्चित समयावधि के लिये मजदूरी दिलाने का वायदा करता है। इसके एवज में सुरक्षा निधि के रूप में मजदूरों के पहले सप्ताह की मजदूरी अपने पास रख लेता है। इसके बाद भी इन्हें हर रोज या हर सप्ताह अपनी पूरी मजदूरी नहीं मिलती है। दो मजदूरों पर हर सप्ताह खर्चे के लिए 500 रुपये तय है। बाकी राशि का भुगतान काम पूरा होने के बाद करने का वायदा रहता है। इसका मतलब यह है कि वे किसी भी परिस्थिति में बीच में काम छोड़कर जा नहीं सकते हैं। पलायन करने वालों को बड़े शहरों में कभी भी एक सुरक्षित आवास की सुविधा नहीं मिलती है। दिल्ली, गुड़गांव, अहमदाबाद, गाजियाबाद पहुंचकर ये लकड़ी के टुकड़ों को जोड़कर उन पर प्लास्टिक की बरसाती बिछाकर एक छत बनाते हैं और उसी से दाएं-बाएं ढक लेते हैं। इसी 30 वर्ग फुट के नाम-मात्र के आवास में ये अपने पलायन की पूरी अवधि बिताते हैं। यह दृश्य ढीमरपुरा के शंभूदयाल के आत्म अनुभव का एक टुकड़ा है जो पलायन करने वाले किसी भी मजदूर किसान पर सटीक बैठता है।

महानगरों की तरफ जाने वाले लोग ज्यादातर निर्माण मजदूरी का काम करते हैं जहां उन्हें 80 से 150 रुपये का मेहनताना मिलता है। इसमें से वे ज्यादा से ज्यादा बचा सकें, इसके लिये वे ईंधन की लकड़ी, गेहूं-आटा, हर तरह के कपड़े, बर्तन, बच्चों के खिलौने जैसी जरूरत का हर सामान अपने गांव से लेकर चलते हैं। दिल्ली जैसे शहर में आकर भी उन्हें एक ही जगह पर रोजगार के मौके कहां मिलते हैं। कभी यहां तो कभी वहां। जहां सुना कि काम खुला है वहीं दौड़ पड़े। खानाबदोश की जिन्दगी और पलायनवास के घर। 20-20 किलोमीटर तक प्लास्टिक की बोरियों और बंडलों को लादकर पैदल चलकर चलते हैं और नये अवसरों तक पहुंचते हैं। बच्चों की सुरक्षा और स्वास्थ्य के बारे में सोचने के लिये न

तो वहां कोई विकल्प होता है और न ही अवसर। जैसे-तैसे वे अपने 9 घंटे का काम पूरा करते हैं और महानगरों की जिन्दगी को अपने नजरिये से देखने के कोशिश करते हैं। वे इन शहरों के विकास और चमकदार बनाने के लिये पसीना बहाते हैं, यह जानते हुये कि इस विकास में खुद उनके लिये कोई स्थान नहीं है।

...और शहर कभी अपना न हुआ!

7-8 साल पहले बुंदेलखण्ड के मजदूर श्रमिक और छोटे-सीमांत किसान ही आम तौर पर ज्यादा से ज्यादा दो से तीन माह के लिये पलायन करते थे। इसमें से ज्यादातर समय चैत (रबी के मौसम में) के दौरान होता था। पिछले दो सालों में दो तरह के बदलाव आये हैं। पहला तो यह है कि अब पलायन की अवधि 8 से 10 महीनों की होने लगी है। दूसरा यह कि गांव की जिन्दगी को त्रासदी के रूप में देखने लगा है और महानगरों में रोजगार के स्थाई विकल्प खोजने की कोशिश कर रहा है। टीकमगढ़ और छतरपुर के ज्यादातर गांवों में आपको 4 से 6 ऐसे उदाहरण जरूर मिल जायेंगे, जिनमें परिवार पिछले दो सालों से अब गांव केवल घूमने के लिए आते हैं। तीसरा बदलाव काम के मामले में दिखता है। पहले ये आस-पास के इलाकों में खेती के मौसम के दौरान कृषि मजदूरी के लिये जाते थे। अब ज्यादातर निर्माण मजदूरी के लिये जाने लगे हैं। पलायन की यह तस्वीर शहर व शहरवासियों को आश्वस्त करती है कि विकास के नाम पर हो रहे बेतहाशा निर्माण कार्यों के लिये सस्ता श्रम मिल सकेगा। सरकारों के लिए भी यह चिन्ता का विषय नहीं है। गांव में सस्ती जमीन मिल जाती है और शहर में सस्ता श्रम। ऐसे में सरकार के लिए कॉरपोरेट सेवा आसान हो जाती है। अब तो वे किसान भी हाल बेहाल हैं जो कभी इन मजदूरों को रोजगार दिया करते थे। रफ्तार पकड़ते इस विकास ने पलायन की रफ्तार तेज कर दी है और पलायनवास को कठिन बना दिया है। गांव-घर पीछे छूट चुका होता है और शहर कभी अपना नहीं होता। शहरों में सड़कों की शरण में आये ये लोग खूब जानते हैं कि सड़क का न तो कोई अपना होता है और न ही कोई सपना। ये स्वयं सड़क बन कर रह जाते हैं जिन्हें रौंदते हुए विकास की तेज रफ्तार गाड़ियां निकल जाती हैं। पलायन बिलकुल मौत जैसा होता है।



ठहरा हुआ एक मौसम : चुनौतियों का !

अब ठेठ गर्मियों में तूफान आते हैं और बारिश शुरू हो जाती है। मानसून में बारिश के दर्शन तक नहीं होते। शीत ऋतु में इतनी ज्यादा ठंड पड़ती है कि सब्जियां, गेहूं और दूसरी तमाम फसलें खराब हो जाती हैं। इस साल ठंड इतनी कम पड़ी कि खेती फिर संकट में आ गई है। बीते कई सालों से यहां के किसान जलवायु परिवर्तन की मार झेलने को अभिशप्त हैं। वर्तमान मौसमी संकेत अगले साल खूब गरम होने की चेतावनी दे रहे हैं। मध्य और उत्तरी भारत ठोस जाड़े के मौसम में वातावरण गर्मी से तप रहा है। ऐसी स्थिति अब तक कभी भी नजर नहीं आई थी। एक जमाना था जब लोग धरती पर पांव और सूरज की रोशनी में हाथ रखकर वातावरण का तापमान बता देते थे। आज तो आज कल के मौसम को भांप लेते थे। अब तो मौसम का पूर्वानुमान लगा पाना बेहद मुश्किल हो गया है।

कभी देर, तो कभी सबेर आई बारिश ...

चार साल बाद साल 2008 में यहां के लोगों ने बारिश देखी। तब जून के दूसरे सप्ताह में ही मौसम की करीब 32 फीसदी बरसात हो चुकी थी। लेकिन किसान इतनी जल्दी फसल बोने के लिए तैयार नहीं थे। लगातार सूखे की विभीषिका झेल रहे किसान इस साल भी खाली हाथों और सूनी आंखों से कभी जमीन तो कभी आसमान निहारते रह गये, वे पानी बरसते देखते रहे। क्या करते? जब मानसून ढेर सारा पानी लेकर आया तो किसान के पास खेती के लिए जरूरी बीज या दूसरे संसाधन खरीदने के लिए पैसे ही नहीं थे। बुंदेलखंड के करीब 76 फीसदी किसान सूखे के इन सालों में अपना लगभग सब-कुछ खो चुके हैं। अपनी खेती की जमीन, पशुधन, संपत्ति सब कुछ खो चुके हैं। कुछ के तो सिर पर छाया तक नहीं बची। बुंदेलखंड के ज्यादातर हिस्से में 2008 के साल के शुरू में ही सालाना बारिश का करीब 55 फीसदी हिस्सा बरस चुका था। यूं तो रिकार्ड के मुताबिक छतरपुर में 968.8 मिलीमीटर के मुकाबले 1108.3 मिलीमीटर वर्षा हो चुकी है यानी औसत से ज्यादा; इसके आधार पर अब बुन्देलखण्ड के छतरपुर के ज्यादातर जिले सूखे की सरकारी

परिभाषा से ही बाहर हैं। किन्तु यहीं के राजनगर विकासखण्ड के लालपुर, गुन्चू और प्रतापपुरा जैसे 40 से ज्यादा गांवों को पानी की तरावट नसीब नहीं हुई है। यहां चारे, बिजली और सिंचाई के साधनों का भी संकट है। मौसम के इस बदलाव से कई इलाकों में बाढ़ आई और उर्वर जमीन के क्षय के साथ-साथ पशुओं का भी बड़े पैमाने पर नुकसान हुआ। बुंदेलखंड में कृषि की इस बदहाली का असर यहां के पशुओं पर भी साफ तौर पर देखा जा सकता है।

इस बार मानसून से पहले ही बादलों के बरसने से गांवों में लोग खेतों में हल नहीं चला सके और कोई भी फसल नहीं बो पाए। साल 2008-09 को बारिश के संदर्भ में बेहतर माना जा सकता है लेकिन यह भी बुंदेलखंड के लघु व सीमांत किसानों की जिंदगी में कोई सकारात्मक बदलाव नहीं ला सका। इस बार लगातार तीन-चार दिन तक बारिश होने से निचले क्षेत्रों में पानी भर गया और किसान इनमें कुछ भी नहीं बो सके। अब वे अगली फसल के इंतजार में हैं लेकिन इसके लिए उन्हें ज्यादा निवेश करने की जरूरत पड़ेगी। क्योंकि पहले जो बारिश आई वह खेती के लिए निर्धारित समय से पहले हो गई या फिर कई स्थानों पर वह इतनी देर से आई कि खेत तैयार होने के बाद भी बोए नहीं जा सके। सूखे के चलते वे अपनी तमाम जमा-पूंजी खर्च कर चुके हैं। ऐसे में इस साल बारिश के बावजूद वे ज्यादा निवेश करने की हालत में नहीं हैं। उनके पास बीज, खाद, दवा खरीदने के लिए पैसे ही नहीं हैं। अब खेती के लिए कर्ज लेने का जोखिम उठाने की हालत में नहीं हैं।

जलवायु परिवर्तन का ही नतीजा है कि यहां पिछले आठ सालों में सालाना मानसूनी बारिश के दिन 52 से घटकर महज 23 से 24 रह गए हैं। राज्य सरकार ने इस साल यह दावा करते हुए टीकमगढ़ और छतरपुर जिलों को सूखा प्रभावित जिलों से अलग कर दिया कि इस साल यहां औसत से ज्यादा बारिश हुई है। शायद ऐसी घोषणा करने वाले राज्य के आला अधिकारी यह नहीं जानते थे, यह बारिश 45-50 दिनों की निर्धारित अवधि की बजाय महज 20 दिनों में ही हो गई है और इससे खेती को फायदे की बजाय नुकसान हुआ है। समूचा बुंदेलखंड अभी भी सूखे की गिरफ्त में है। इस अनिश्चित मौसम का मतलब ही जलवायु परिवर्तन है।

जलवायु के इस अनिश्चित रवैये के चलते क्षेत्र में हुई पर्याप्त बारिश (मात्रा के संदर्भ में) भी यहां की खेती के लिए कोई फायदा नहीं पहुंचा पाई। छतरपुर व पन्ना जिलों में भी इस साल असमान में बारिश की मौजूदगी जरूर महसूस की गई लेकिन बीते 15 सालों से जारी सूखे तथा जंगलों के कटने के चलते बारिश के पानी को बटोरने तथा भविष्य के लिए इस्तेमाल करने की क्षमता भी बेहद सीमित नजर आई।

हाल के कुछ वर्षों में पूर्वी मध्यप्रदेश सूखे की गंभीर समस्या से जूझ रहा है। पिछले साल (2007-08) 39 जिले सूखा प्रभावित घोषित कर दिए गए थे, इनमें से ज्यादातर बुंदेलखंड क्षेत्र में ही थे। इस साल (2008-09) सूखे का असर पश्चिमी

मध्यप्रदेश की ओर बढ़ गया है। करीब 21 जिले सूखा प्रभावित (वे जिले जहां बारिश 20 से 59 फीसदी तक कम हुई हो) के रूप में पहचाने जा चुके थे। फिर 2009-10 में 39 जिले सूखे के संकट में आ गये। इन सात जिलों, छिंदवाड़ा, देवास, हरदा, होशंगाबाद, सीहोर, खरगौन तथा पन्ना में औसत की तुलना में करीब 40 फीसदी कम बरसात हुई है। समूचा मध्यप्रदेश ही धीरे-धीरे सूखा प्रभावित भौगोलिक क्षेत्र बनता जा रहा है।

मध्यप्रदेश की नई नीतियों व तथाकथित विकास योजनाओं, जिनमें खनन, सीमेंट उत्पादन व धूल पैदा करने वाले अन्य कई उद्योग शामिल हैं, से बुंदेलखंड क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन को और बल मिल रहा है। मध्यप्रदेश सरकार ने सागर में हुए निवेशक सम्मेलन के जरिए बुंदेलखंड के बेहतर भविष्य का वादा जरूर किया था लेकिन राज्य की प्राथमिकता सूची में कृषि अभी भी काफी नीचे है। बुंदेलखंड क्षेत्र पारंपरिक तौर पर मध्यप्रदेश के सर्वाधिक संपन्न क्षेत्रों में माना जाता रहा है। इस क्षेत्र में घरेलू जरूरतों के अलावा बाजार के लिए भी पीढ़ियों से भरपूर खाद्यान्न पैदा होता रहा है। पिछले आठ सालों से इसमें लगातार गिरावट आ रही है। अब तो आधी रह गई है।

एक ओर जहां दिन प्रति दिन इस क्षेत्र के लोगों की हालत खराब होती जा रही है। वहीं राज्य सरकार ने बुंदेलखंड में निजी कंपनियों से करीब 50 हजार करोड़ रुपए के निवेश करवाने में सफलता हासिल की है। ज्यादा निवेशकों का ध्यान खनन आधारित उद्योगों पर है। मसलन स्टील प्लांट, सीमेंट प्लांट, जैट्रोफा उत्पादन, प्रसंस्करित खाद्य उत्पाद आदि। आर्थिक विकास के ये तरीके पर्यावरण के लिये बेहद नुकसानदायक हो सकते हैं। राज्य सरकार इन निवेशकों को पानी, बिजली और तमाम अन्य सुविधाएं देने का वायदा कर रही है। लेकिन इनमें से कृषि क्षेत्र के लिए एक भी निवेश नहीं किया गया है। यहां होने वाले औद्योगीकरण से जमीनों की उर्वरता घटेगी, भूजल के अंधाधुंध दोहन से अपने उत्पादन और जंगलों के लिए प्रसिद्ध बुंदेलखंड की जमीन बंजर हो जाएगी। इसके चलते यहां के किसान, गरीब और उपेक्षित समुदाय असुरक्षा के अनुत्तरित सवाल के साथ अकेले छूट जाएंगे।

गर्मी ने निचोड़ ली पान की लाली...

बदलता जलवायु उन समुदायों की जिन्दगी में कितना जहर घोलेगा जिनका रोटी-रोजगार, पर्व-त्योहार सब कुछ जलवायु पर ही निर्भर रहा है, कहा नहीं जा सकता। बुंदेलखंड के पान उगाने वाले किसानों की जिन्दगी की किताब अगर कोई पढ़ सके तो इस जहर का अन्दाजा लगा सकता है। इस किताब का एक पूरा अध्याय है गौरी शंकर। हर बार की तरह पिछली बार भी गौरीशंकर ने पान की फसल 18 कतारों में लगाई थी। लेकिन इस बार वह किस्मत की बाजी हार गया। वह बताता है, हर साल वह 20 फरवरी से 20 मार्च के बीच पान की फसल लगाता

आया है। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि फसल खूब लहलहाए और ढेर सारी कमाई दे। इसके लिए जरूरी है कि फसल को कम से कम तीन महीने तक तीखी धूप से बचाकर रखा जाए। फसल को मिलने वाला तापमान 30 डिग्री से ज्यादा नहीं होना चाहिए। इसीलिए इस इलाके के किसान फसल के क्षेत्र को टहनियों और धान के पैरे से बनाए अस्थायी ढांचे से ढंक देते हैं। गौरीशंकर ने जब फसल लगाई तब वह सीजन तो पान लगाने वाला ही था लेकिन तापमान बढ़कर 35 डिग्री हो चुका था। ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था। यहां पान उत्पादक किसान तापमान जानने के लिए किसी वैज्ञानिक उपकरण का इस्तेमाल नहीं करते। ये सूरज की रोशनी में हाथ रखकर और जमीन पर पैर का पंजा रखकर तापमान बता देते हैं।

गौरीशंकर की कहानी ही हर पान उत्पादक किसान की कहानी है। मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले के लौंडी नगर में रहने वाले 220 परिवार वर्ष 2002 तक अपनी जिन्दगी अपनी ही शर्तों पर जीते थे। उनके द्वारा पैदा किया जाने वाला बंगली पान से पूरे देश भर के मुँह पर लाली रहती थी। मुँह में जाते ही घुल जाने और एक खास तीते स्वाद के लिए विख्यात रहा। लौंडी का यह बंगली पान यहां के लोगों के लिए रोजगार का एकमात्र साधन तो रहा ही है, यहां की आन, बान और शान भी रहा है। यहां की आत्मा रही है। 30 डिग्री के तापमान में होने वाली पान की फसल को शुरुआती तीन महीनों तक रोज सुबह 9 बजे के बाद तीन-तीन घंटे पर पानी देना होता है। आज हर व्यक्ति को मानसागर तालाब में गड़दे खोदकर 100 से 400 मटके भरकर पानी लाना पड़ रहा है। वे एक-एक बूंद पानी छिड़ककर पान की एक-एक बेल को जिन्दा रखने की कोशिश कर रहे हैं। पान को कच्चा धंधा माना जाता है। उन्हें न तो कर्ज मिलता है न ही वे सूखा प्रभावितों की तरह मुआवजे के हकदार हैं। वर्ष 2002 में 200 रुपये प्रति किलो बिकने वाला देशी पान आज 60 से 70 रुपये किलो बिक रहा है। इसी इलाके में महाराजपुर पान की एक बड़ी मण्डी भी है और उत्पादन का इलाका भी, पर यहां भी 60 फीसदी परिवार इस काम को छोड़ मालिक से मजदूर बनने को मजबूर हैं।

वर्तमान मौसमी संकेत अगले साल खूब गरम होने की चेतावनी दे रहे हैं। मध्य और उत्तरी भारत ठोस जाड़े के मौसम में भी तप रहा है। पिछले चार सालों में गर्मी इतनी पड़ी और बढ़ी कि पान के कोमल पत्ते कुम्हालने लगे। एक बार रोपा गया पौधा तीन साल तक पान का उत्पादन करता है। एक साल फसल की बर्बादी का मतलब हुआ तीन साल की बर्बादी। अब तो देशी पान में भी सूखा रोग लगने लगा है। तमाम कोशिशों के बाद बढ़ने वाली यह फसल सूखे जा रही है। जब धरती सूखी हो और किसान भूखे तो कौन बचाये इन नाजुक पौधों को! सरकार के कहने पर एक दशक पहले बंगली पान उत्पादकों ने भी फसल में रासायनिक उर्वरकों, यूरिया और डीएपी का उपयोग शुरू कर दिया था। इससे भी उनकी जमीन की चारित्रिक विशेषताओं और उत्पादकता को गंभीर रूप से प्रभावित किया। छतरपुर

जिले के गजेटियर के अनुसार यहां सबसे ज्यादा गर्मी मई में महसूस की गई जब अधिकतम तापमान 41.1 डिग्री होता था किन्तु इस साल 12 अप्रैल को ही पारा 42 डिग्री को पार कर गया, इस अगन ने पान पैदा करने वालों की उम्मीदों को ही झुलसा दिया है। छतरपुर महाराज के द्वारा बनवाया गया मान सागर तालाब सिंचाई का सबसे बड़ा स्रोत रहा है। इस बार के सूखे की मार इतनी भयानक रही कि चार सौ साल में पहली बार यह तालाब ही सूख गया।

गांव और आसपास के इलाकों में अब मजदूरी नहीं मिलती। कौन किसे काम दे? सब के सब तो इसी बदलते मौसम, तपती गर्मी और सूखी धरती के दर्द के भुक्तभोगी हैं। अब वे गांव छोड़ कर जा रहे हैं। अब तक अंचल के 3000 लोग इस काम को छोड़ चुके हैं और हर घर के 1 या 2 सदस्य पलायन कर चुके हैं। पाँच साल पहले तक छेदीलाल चौरसिया अपनी जमीन के 60 डेसीमल जमीन के छोटे से टुकड़े में पान उगाकर पचास हजार रुपये सालाना कमा लिया करते थे। अब कर्ज में डूबे हैं। घर का बहुत सा सामान बेच डाला फिर भी 25000 रुपये का कर्ज है। छेदीलाल चौरसिया के परिवार के नौजवान मजदूरी की तलाश में जीवन में पहली बार पलायन करके दिल्ली जैसे महानगर की भीड़ में खो गये।

छतरपुर जिले में चार हजार से ज्यादा चौरसिया परिवार जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों पर ढाई फिट चौड़ी और ढाई सौ फिट लम्बी पारियाँ (यानी पान की क्यारियाँ) लगाते रहे हैं। जमीन के एक टुकड़े पर सामान्यतः 25 से 100 पारियाँ लगाकर 5 से 10 परिवार एक साथ संयुक्त रूप से उत्पादन करते हैं। इनमें से ज्यादातर परिवार खुद जमीन के मालिक नहीं होते हैं बल्कि गांव के दूसरे किसानों-जमींदारों से बटाई पर जमीन लेकर अपनी आजीविका चलाते रहे हैं। एक पारी के लिये हरीशचंद्र चौरसिया 185 रुपये सालाना किराया चुका रहे हैं और एक क्यारी लगाने में उन्होंने इस साल 3200 रुपये खर्च किये हैं। फसल की आज की स्थिति का वास्तविक आकलन उन्हें बता रहा है कि 1800 रुपये से ज्यादा वापस नहीं मिलने वाले हैं, यानी 10 पारियों पर 14000 रुपये का घाटा, वह भी लगातार तीसरे साल।

40 साल से पान पैदा कर रहे बद्रीप्रसाद अहिरवार बताते हैं कि पिछले पांच सालों में देशी पान के उत्पादन की लागत 800 रुपये से बढ़कर 4000 रुपये तक पहुँच गई है परन्तु सूखे, बीमारी और पूंजीगत सहयोग के अभाव में हम बाजार में लगातार अपने पान नहीं भेज पाये, जिससे दूसरी किस्मों के बाहरी पानों ने बाजार में जगह बना ली। एक ओर तो लागत बढ़ी तो वहीं दूसरी ओर हमारा बाजार भी कम होता गया। अब तो पान मसालों के पाउच ने पैर रखने की भी जगह नहीं छोड़ी है। कभी भरपूर फसल होने के कारण मिदनापुर का बंगला पान छतरपुर में 30 पैसे में मिल जाता है। अब इसी बंगली (देशी पान) की लागत 60 पैसे पड़ने लगी है। 1 रुपये में मिलने वाला बांस अब 10 रुपये का मिल रहा है। मजदूरों की दिहाड़ी भी

दोगुनी हो गई है और बिजली के मामले में तो शोषण का कोई ठिकाना ही नहीं है।

हाल ही में छोटे और मझोले किसानों की कर्ज माफी ने उन्हें और ज्यादा उपेक्षित होने का अहसास कराया है। छेदीलाल चौरसिया कहते हैं कि, 'हमें तो किसान ही नहीं माना जाता। जिले के 95 प्रतिशत पान उत्पादकों के पास किसान क्रेडिट कार्ड नहीं है, न ही उन्हें कर्ज ही दिया जाता है। हमारी जमीन का आकार इतना छोटा है कि हम उनके पात्रता मापदण्डों से बाहर निकल जाते हैं। अब से चार साल पहले जब हमें कर्ज की जरूरत नहीं थी तब साहूकार कर्ज दे सकते थे पर संकट के स्थायीपन को भांपते हुए कोई कर्ज देने को तैयार नहीं है। यहां तक कि सरकार के सबसे अधिकृत और ऐतिहासिक दस्तावेज जिला गजेटियर में भी इनका जिक्र और विश्लेषण बड़ी फसलों और व्यापार की भीड़ में गुम हो गया। आज भी किसी योजना एवं नीति के तहत पान उत्पादकों से संरक्षण की कार्य योजना दर्ज नहीं है जबकि प्रत्यक्ष रूप से 4000 एवं पान की दुकानों के जरिये 25 हजार परिवार आजीविका कमाते रहे हैं।

सूखे ने सुखा दिया सब्जियों को

टीला गांव मध्यप्रदेश में बेहतरीन बैंगन और लौकी के उत्पादन के लिए जाना-पहचाना जाता रहा है। टीला पंचायत के 387 परिवारों में से 302 परिवारों के जीवनयापन का सबसे अहम साधन सब्जी उत्पादन रहा है। अकेले टीला गांव से तीन साल पहले रोज 17 से 18 ट्रक सब्जी लादकर जबलपुर, भोपाल, इंदौर, झांसी, आगरा जैसे बड़े शहरों में जाया करते थे। पर आज दो दिन में 1 ट्रक जा पा रहा है। इन शहरों की मण्डियों में टीकमगढ़ के निवाड़ी विकासखण्ड के टीला जैसे गांवों के बैंगन और लौकी की जबरदस्त मांग हुआ करती थी। किसानों का आकलन बताता है कि सब्जियों (लौकी, आलू, शिमला मिर्च और बैंगन) के उत्पादन में 70 से 80 फीसदी की गिरावट आई है और 80 फीसदी किसानों (जिनमें ज्यादातर छोटे और सीमांत किसान हैं) ने सब्जी का उत्पादन बंद कर दिया है। 40 बीघा उपजाऊ और सिंचित जमीन के मालिक रामपाल सिंह घोष बताते हैं कि निवाड़ी और टीला गांवों में इतनी ज्यादा सब्जियां पैदा होती थीं कि यहां सब्जी उनके लिए बेहद मामूली चीज हो गई थी। हर किसी की थाली में गेहूं, दाल, चना व सब्जियां पर्याप्त मात्रा में होती थीं। पिछले चार-पांच सालों से वह अपनी 40 बीघा जमीन पर लौकी, ककड़ी या आलू की फसल तक नहीं ले पाए हैं। अब उन्हें खाने की सब्जियों के लिए भी बाजार का मुंह ताकना पड़ता है। रामपाल ने पिछले साल अपने किसान क्रेडिट कार्ड से इस भरोसे पर कर्ज लिया था कि अच्छी फसल के होते ही वह कर्ज चुकता कर देगा। लेकिन अभी तक वह कर्ज की एक भी किश्त नहीं चुका पाया है।

गरीब और छोटे किसानों के साथ खेतीहर मजदूरों पर सूखे की मार ज्यादा गहरी पड़ी है। टीला गांव की उर्मिला योंदेरिया का परिवार बहुत सम्पन्न नहीं है। दो

एकड़ की अपनी खेती की जमीन पर वे अपने परिवार की जरूरत पूरा करने लायक गेहूं, चना और मटर पैदा कर लेते थे। इसी खेत की मेड़ और एक हिस्से पर वे इतनी सब्जी उगा लेते थे कि पिछले 20 सालों में उन्हें आलू, लौकी, शिमला मिर्च खरीदने की जरूरत नहीं पड़ी। तीन साल के सूखे के कारण अब स्थिति बदल चुकी है। उनके पति हरीशचंद्र पिछले तीन महीनों से मजदूरी करने के लिये दिल्ली में रह रहे हैं और उर्मिला अपने तीन बच्चों के साथ गांव में ही है। उसे अपने ही गांव में न तो मजदूरी का काम मिल रहा है न ही रोजगार गारण्टी का; क्योंकि खेत में पानी नहीं है और राजनीतिक द्वेष ने रोजगार गारण्टी की धार को कुंद कर दिया है।

कैना-टीला बैंगन के इस गढ़ के 280 कुओं में से एक में भी पानी नहीं है और दोनों तालाब पूरी तरह सूख चुके हैं। यहां के 60 फीसदी दलित और कुशवाहा परिवार पलायन करके दिल्ली, हरियाणा और आगरा जा चुके हैं। यहीं के परसराम घोष ने भी बीते साल नलकूप और मोटरपंप सेट खरीदने के लिये 1.60 लाख रुपये का कर्ज लिया था। उन्होंने तीन बार बोरिंग करवाई पर पानी नहीं मिला। मोटर पंपसेट अब भी उनके घर में रखा हुआ है, पर बेकार। ब्याज लगातार बढ़ता जा रहा है। जीवन में पहली बार लिया गया कर्ज गले की फांस बन गया है। पूरा इलाका कर्ज के बोझ से दबा हुआ है। आज संस्थागत और गैर-संस्थागत ऋण की राशि यहां 85 लाख रुपये का आंकड़ा पार कर चुकी है। इस इलाके में ज्यादातर परिवार, फिर वे चाहे कुशवाहा हों, घोष हों, ब्राह्मण हों या फिर अहिरवार, सब्जी के उत्पादन का काम करते रहे हैं। पानी की बेहतर उपलब्धता और उपजाऊ मिट्टी ने उनके जीवन को गढ़ा और खुशियों के रंग भरे। किन्तु आज इनमें से ज्यादातर परिवार संकट में हैं। 20, 25 और 30 एकड़ कृषि भूमि के मालिक अब “अपने सम्मान” को हर पल तौलते हैं। रोजगार गारण्टी योजना के कामों में मजदूरी करने के लिये ये तैयार नहीं हैं। इससे उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुंचती है। सतानंद घोष कभी प्रभावशाली किसान हुआ करते थे। चलते थे तो छाती तनी होती थी और सर ऊंचा। ये मानते हैं कि छोटे मजदूरों के लिये तो फिर भी विकल्प है परन्तु मझोले किसान तो मझाधार में फंसे हैं। इस साल केवल 10 किसानों ने कुछ वर्गफिट में सब्जी लगाई है। परसराम यादव एक एकड़ में 150 से 200 क्विंटल आलू पैदा करते थे। उनके यहां से 10 टन बैंगन जबलपुर भेजा जाता था पर आज एक इंच जमीन पर भी कोई फसल नहीं है। पहली बार यहां के लोगों ने टमाटर, बैंगन और लौकी खुद के उपयोग के लिये बाजार से खरीदी है। पहले ये बाजार जाते थे अब बाजार इनके घर में घुस आया है और लौकी 16 रुपये किलो, टमाटर 10 रुपये और आलू 8 रुपये किलो की कीमत पर बिक रहा है। कैना में भी इसी भाव बिक रही हैं सब्जियां। झांसी के बेहद करीब होने के कारण निवाड़ी के टीला, निवाड़ी भाटा और कैना सरीखे 25 गांवों में इस साल (2008 में) सब्जी का उत्पादन 15 फीसदी भी नहीं हुआ है।

निवाड़ी के गांवों में बिजली के संकट ने सब्जी उत्पादकों के दुख को और ज्यादा बढ़ा दिया है। विक्रम सिंह कहते हैं कि उन्होंने यह सोचकर पिछले साल कर्ज पर मोटरपंप खरीदा था कि शायद इससे पानी की कमी दूर हो पायेगी पर गांव में केवल एक घंटे ही बिजली मिल पा रही है। इतनी देर में तो घर के उपयोग का ही पानी भर पाता है, सिंचाई का तो सवाल ही नहीं उठता। कैना गांव के रतिराम के पास कुल जमा ढाई एकड़ जमीन है और पिछले तीन सालों से गांव में बिजली नहीं है, छह माह पहले तो बिजली के तार भी निकाल लिये गये पर उनके घर पर 42142 रुपये का ताजा बिजली का बिल आया है। कैलाश के घर एक बत्ती कनेक्शन है पर उनके बिजली के बिल की राशि 15254 रुपये है। बिजली के बिलों की माफी के झूठे वायदों के चक्कर में आज यह गांव 41.51 लाख रुपये के विद्युत बिलों के बोझ तले दबा हुआ है। इस दबाव ने खेती की संभावनाओं को लगभग खत्म करके भुखमरी और गरीबी को ही जिन्दगी बना दिया है।

सूख गये संतरों के बगीचे

छिंदवाड़ा के लजीज संतरे मध्यप्रदेश के इस जिले की पहचान रहे हैं; खट्टी-मीठी पहचान! जिले के दो विकासखण्डों पादुर्ना और सौंसर ने इसे 'संतरों के शहर' बना रखा था। मौसम बदला, तापमान बढ़ा, धरती की नमी गई तो संतरों के बगीचे भी सूखने लगे। वर्ष 2005 में संतरों के 30 लाख पेड़ हुआ करते थे। महज तीन साल में यहां संतरे के 10 लाख पेड़ सूख चुके हैं। भूजल स्तर में 6 से 12 फीट की गिरावट आई है। इन परिस्थितियों ने पेड़ों को बीमार बना दिया। बीमारी में सुकून देने वाला यह फल खुद ही बीमार हो गया। लालिया और गमासिस नाम की बीमारी से ग्रस्त पेड़ सूखने लगे। बारिश का पानी ही काफी हुआ करता था संतरों के बागीचों की सिंचाई के लिए। तीन सालों से बारिश न होने के कारण सौंसर के जलाशय से वर्ष 2009 में साल भर में केवल दो बार पानी दिया जा सका है। पानी के इस वितरण में भी 50 फीसदी संतरा उत्पादकों तक पानी नहीं पहुंच पाया। धरती में रस नहीं रहा तो संतरों का रस भी जाता रहा। वे नीरस भी होते गए और छोटे भी। संतरे के पौधे पैदा होने के 7 वर्ष बाद फल देना शुरू करते हैं। तब तक गर्भवती स्त्री की तरह पोषण देना पड़ता है। सिंचाई, खाद, और कीटनाशकों के जरिये उनकी सघन देखभाल करना होती है। सात सालों तक सेवा और इन्तजार के बाद जब पेड़ ही सूख जाए तो किसान की जिन्दगी में सुखे के सिवाय कुछ बचेगा? अब ये किसान किसान नहीं रहे, गरीब...सिर्फ गरीब रह गये हैं।

बच्चों के मुंह से भी छीना निवाला

यहां आंगनबाड़ी केंद्रों द्वारा गांवों में मुहैया कराए जा रहे पोषाहार योजना पर भी नकारात्मक असर पड़ा है, क्योंकि पानी के अभाव में पोषाहार को पकाना एक

समस्या बन गया है। पहले गांवों में बच्चों के भोजन का एक बड़ा हिस्सा स्कूलों के मध्याह्न भोजन व आंगनबाड़ी के मिलने वाले पोषाहार के रूप में मिल जाया करता था। पानी और और कृषि के अभाव में किसी और तरह की गतिविधि यहां संभव ही नहीं रह गई है। बुंदेलखंड के टीकमगढ़ जिले में पलेरा ब्लाक के घूरा गांव की रामकली रायकवार प्राइमरी स्कूल के बच्चों के लिए मध्याह्न भोजन पकाने का काम करती है। इसके लिए जरूरी पानी लाने के लिए उसे हर दिन करीब दो किलोमीटर दूर जाना पड़ता है, जो पानी का सबसे नजदीकी स्रोत है। स्कूल में पीने के पानी का कोई जरिया न होने के चलते केवल 33 बच्चे ही रोजाना स्कूल आते हैं जबकि यहां हुए पंजीकरण में नाम दर्ज करवाने वाले बच्चों की कुल संख्या 99 है। अन्य बच्चे या तो अपने माता-पिता के साथ पलायन कर गए हैं या फिर उनके माता-पिता उन्हें इसलिए स्कूल नहीं भेज रहे कि वहां पीने के पानी की कोई व्यवस्था नहीं है।

...रिक्शा खींचने लगा किसान

बुंदेलखंड में मौसम के बदलते मिजाज ने अच्छे खासे किसानों को रिक्शा खींचने वाला मजदूर बना दिया है। दो साल पहले तक श्रीपाल छतरपुर जिले के एक छोटे से गांव में अपने भरे पूरे परिवार के साथ रहता था। कुल 30 सदस्य थे उसके परिवार में। घर का आंगन बच्चों की किलकारियों से गुंजता रहता था। बेटियों-बहुओं की खनकती हँसी जिंदगी में रंग भरती रहती थी। बड़े बुजुर्ग नाती-पोतों की हँसी में हँस रहे होते थे। 40 बीघा जमीन पर खेती होती थी। 35 घरेलू जानवर भी थे। खेत और पशु दोनों मिलकर इतना दे देते थे कि पूरे परिवार का पेट और मन भर जाने के बाद भी बच जाता था। बाजार में बेच कर ठीक-ठाक पैसे भी मिल जाते थे। सूखे की मार ने श्रीपाल और उसके तीन भाइयों को अब रिक्शा चालक बना दिया है। ये रिक्शा खींचकर खेती के लिए गए कर्ज उतार रहे हैं। उन्हें छतरपुर शहर में एक जगह से दूसरी जगह जाने के बमुश्किल पांच से आठ रुपए मिलते हैं। एक रिक्शे का दिन भर का किराया होता है 25 रुपए। कमाई चाहे हो न हो, ये 25 रुपए तो मालिक को देने ही होते हैं। श्रीपाल और उसके भाई हाड़तोड़ मेहनत से अपने परिवार के लिए केवल दो जून की रोटी का जुगाड़ भी बड़ी मुश्किल से कर पा रहे हैं। नये कपड़े, दवाइयाँ, स्कूल तो अब सपनों की दुनिया में भी नहीं हैं। थोड़ी बारिश हुई तो एक भाई अपने गांव वापस लौट गया। लेकिन चारों अभी भी गरीबी के इस दुश्चक्र से बाहर निकलने की तरकीब तलाशने में लगे हैं।

पशुधन भी संकट में

बुंदेलखंड की संस्कृति में खेती की कल्पना भी पशु के बगैर नहीं की जा सकती

लेकिन पशुओं पर भी संकट बढ़ता जा रहा है। घटते पशुधन ने खेती-किसानी के पटरी पर लौटने की उम्मीदें खत्म कर दी हैं। किसान कहने लगे हैं कि अगर बाकी सारी चीजें ठीक हो भी जाएं, मसलन, पानी और बीज मुहैया करा दिए जाएं, तो भी पशुधन की कमी के चलते कृषि क्षेत्र का विकास बेहद सीमित हो जाएगा। राज्य सरकार हमेशा पशुधन आबादी बढ़ाने की बात करती रहती है, लेकिन मौजूदा पशुधन को बचाने के लिए कोई धारणा नजर नहीं आती। जैविक संसाधनों के लिए चारे, छाया या पीने के पानी के लिए सरकार की योजनाओं में किसी तरह के आर्थिक संसाधन मुहैया नहीं कराए गए हैं। गायों की रक्षा की योजना पूरी तरह से राजनीतिक है। इसका गांवों में किसी तरह का असर कतई नजर नहीं आता। बुंदेलखंड में गेहूं और पशुओं का चारा लगभग एक ही दाम पर खरीदा जा रहा है। यहां एक ट्रॉली चारे की कीमत करीब 2500 रुपए है जबकि गांववाले इतना ही चारा 2004 में महज 200 रुपए में खरीदते थे। पर्यावरणीय चक्र में गड़बड़ी का भी चारा संकट बढ़ाने में खासा योगदान रहा है। परिवारों ने या तो सूखे के असर के चलते अपने पशु गंवा दिए या फिर उनके अपनी किस्मत के भरोसे खुला छोड़ दिया गया। यहां लोग अपने और परिवार के लिए हर दिन हर पल नई चुनौती से जूझ रहे थे, अपने पशुओं के बारे में सोचना उनके लिए काफी दूर की चीज थी। विगपुर के हकीम सिंह यादव के पास कभी 37 जानवर हुआ करते थे, अब केवल 7 जानवर ही बचे हैं।

टीकमगढ़ जिले में परहित संस्थान की ओर से किए गए एक क्षेत्र सर्वेक्षण में पाया गया कि बीते चार सालों में बड़ी संख्या में पशुधन हानि हुई है। इस अध्ययन के मुताबिक 10 गांवों में 2004 में जहां गाय, भैंस, बकरी, भेड़ समेत कुल 55400 पशुधन था, यह 2008 में घटकर महज 15960 हो गया। यानी चार सालों में इन गांवों में 71 फीसदी पशुधन या तो चारे और पानी के अभाव में काल कवलित हो गए या जंगलों में पलायन कर गए। बरनहोनी गांव के परिवारों में अब केवल 1500 पशुधन ही बचे हैं, जबकि चार साल पहले इनके पास 8000 पशुधन हुआ करते थे। सरकारी नियमों में पशुधन के मरने पर मुआवजे का कोई प्रावधान नहीं है। राज्य के नियमों में पशुधन को संसाधन के तौर पर गिना ही नहीं जाता। ऐसे में ग्रामीणों का यह कहना जायज ही लगता है कि हम और क्या कर सकते हैं, हम अपने जानवरों को चारा मुहैया नहीं करा सकते, उधर सरकार ने भी उनके लिए चारे या पानी की कोई व्यवस्था नहीं की है। हम उन्हें ऐसे ही मरता नहीं देख सकते, इसलिए उन्हें खुला छोड़ देते हैं ताकि वे अपने लिए जीने का कोई तरीका ढूंढ सकें। जाहिर है कि पशुधन आधारित लोगों की आजीविका अब और भी कठिन हो गई है। ऐसे लोगों की सुरक्षा के लिए योजना बनाना विकास नीति बनाने वाले लोगों की प्राथमिकता सूची से बाहर है।

मध्यप्रदेश में पशुधन बढ़ाने की कई योजनाओं के बावजूद यहां पशुधन संख्या में

लगातार गिरावट दर्ज की जा रही है। 1992 में यहां कुल 28687 हजार पशुधन थे जो 2004 में घटकर 17943 हजार हो गए। यहां भैंसे अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं, इनकी संख्या 7970 हजार से गिरकर 7026.8 हजार तक पहुंच गई है। इसी तरह 836 हजार भेड़ें तथा 8370 हजार बकरे और बकरी भी घटकर क्रमशः 570.4 हजार व 7530.7 हजार ही रह गए। ये आंकड़े राज्य के वेटनरी विभाग से हासिल किए गए हैं। बजट का प्रावधान भी यह साबित करने के लिए पर्याप्त है कि राज्य सरकार कृषि व पशुधन आधारित समाज के लिए कितनी गैर जिम्मेदार है। मध्यप्रदेश सरकार ने पशुपालन विभाग के लिए कुल 272 करोड़ रुपयों का प्रावधान किया है। इसका मतलब यह हुआ कि गाय या भैंस सरीखे एक जानवर के लिए 0.01 रुपए। वैसे भी इस बजट का 78.31 फीसदी हिस्सा वेतन व अन्य मदों पर खर्च हो जाता है। देश में सबसे ज्यादा दूध उत्पादक पशुधन रखने वाला मध्यप्रदेश दूध उत्पादन के मामले में सातवें नंबर पर है। यह जानकारी भी चौंकाने वाली है कि प्रदेश की कुल घरेलू आय में 6 फीसदी का योगदान करने वाले पशुधन के विकास व सुरक्षा के लिए कुल बजट का महज 0.66 फीसदी हिस्सा दिया जाता है।

हाल के वर्षों में मध्यप्रदेश सरकार ने चराई की भूमि को राजस्व की जमीन में बदलकर निजी या व्यावसायिक हितों के लिए इस्तेमाल किया है। 15 साल पहले तक साझा प्राकृतिक संसाधन या 10–12 फीसदी राजस्व की जमीन का इस्तेमाल चारा उगाने के लिए किया जाता था। लेकिन यह घटकर अब महज 1.5 फीसदी ही रह गया है। इसके चलते ग्रामीणों को मजबूरी में चारा बाजार से बेहद महंगी दरों पर खरीदना पड़ता है। इसके चलते पशुधन के जीने के अवसर भी सीमित हो गए हैं। वहीं दूसरी ओर वन विभाग जंगली जानवरों की सुरक्षा के नाम पर पशुओं को चारे के लिए जंगल में जाने से रोकने पर अड़े हुए हैं। ऐसे में ग्रामीणों और वन विभाग के अधिकारियों के बीच हर दिन होने वाले संघर्षों का कारण आसानी से समझा जा सकता है। वर्तमान में ऐसे संघर्षों के 17682 मामले दर्ज किए जा चुके हैं।

अकाल के जाल में मछली और मछुआरे

सिंदूर सागर गांव का ग्यारह सौ साल पुराना सिंदूर सागर तालाब सूख गया है। तलहटी उभर आई है। सूख कर दरक भी गई है। जीवन देने वाला तालाब ही सूख गया तो मछुआरों की जिन्दगी भी सूखने लगी है। अब तो जिधर देखो उधर भूख और भुखमरी है। सदियों से मध्यप्रदेश में मछली पकड़ने और जल आधारित धंधों पर निर्भर रहने वाले ढीमर समुदाय की नौ लाख की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा बुंदेलखण्ड के टीकमगढ़ जिले में रहता आया है। ढीमर मछली पकड़ने के जाल का धागा भी खुद बनाते हैं और बुनते भी खुद है आल्हा और ढिमरिया राग गाते हुये। तीन साल से न तो आल्हा सुनाई पड़ता है और न ही ढिमरिया। सूखे के सन्नाटे में भूख से जूझते लोग खुशी के ये गान गाये तो कैसे? खान-पान भी बदल गया

है। मछली के पहाड़ खड़े कर देने वाले अब दो-तीन महीने में मछली खाने के बारे में सोचते हैं। पिछले चार-पांच सालों में जैसे सब कुछ बदल गया है। गांव के पूर्व सरपंच नत्थू रैकवार कहते हैं कि “आज अगर जाल फैलाने का मौका मिले तो जिन्दगी बदल जाये। जो मछली पांच साल पहले 20-25 रुपये किलो बिका करती थी आज सवा सौ से डेढ़ सौ रुपये किलो बिक रही है। हम तो यह जानते हैं कि दस किलो की मछली कैसे पैदा की जाती है परंतु अब यह संभव नहीं दिखता है।” सवा पांच सौ की जनसंख्या में से बस्ती के ढाई सौ लोग रोजगार की तलाश में गांव से चले गये हैं; कुछ तो लौटकर आए ही नहीं। नत्थू के भाई दुर्गाप्रसाद तीन साल पहले अपना परिवार लेकर गये थे पर वे अब तक लौटकर नहीं आये।

बुंदेलखंड के इस जिले में 1500 से ज्यादा तालाबों और पारंपरिक जल संरचनाओं का उल्लेख मिलता है। ऊपरी सतह पर लाल भूरी-भूरी और थोड़े गहरे में चट्टानें होने के कारण तालाब खूब बने यहां। टीकमगढ़ जिले के प्रमाणिक 995 तालाबों में से आज 421 का ही अस्तित्व नजर आता है, किंतु पानी केवल 10 तालाबों में रह गया है और 76 तालाब जमीन के लालच में नष्ट कर दिये गये। इनमें से 121 तालाबों में आज खेती की जा रही है।

रामप्रकाश रैकवार 55 साल के हैं। इस तालाब कि इर्द-गिर्द ही जवान हुए और अब अंधेड़ भी। उनकी बेटी वंदना शादी के लायक हो गई है। हर बाप की तरह उन्होंने भी उसकी शादी तय की पर अगले साल के लिये टाल देना पड़ा। इस गांव की ढीमर बस्ती के 10 परिवार भी मिल कर शादी का खर्चा वहन कर पाने की स्थिति में नहीं हैं। 72 वर्षीय गणेश ढीमर हफ्ते में दो रात तो भूखे सोते हैं। उनके तीनों बेटे एक साल पहले दिल्ली जा चुके हैं। वे अपनी पत्नी के साथ 275 रुपये की सामाजिक सुरक्षा पेंशन पर पूरा महीना गुजारते हैं। पिछले तीन वर्षों में इस गांव के ढीमरों ने एक भी मछली नहीं पकड़ी है। सैकड़ों सालों से सिंदूर सागर तालाब से मछलियां पकड़ कर जीवनयापन करते रहे हैं ये लोग। लगभग 700 हेक्टेयर क्षेत्रफल के इस विशाल जलक्षेत्र के आस-पास रहने वाले 240 परिवार कभी भूखे नहीं सोये। जब तालाब की तलहटी ही दरक गई है तो जिन्दगी को दरकना ही था !

वर्ष 1999 में मध्यप्रदेश सरकार ने सिंचाई प्रबंधन में किसानों की सहभागिता के लिये कानून बनाया था। तभी से कृषि क्षेत्र में जल उपभोक्ता संगठनों की भूमिकायें सामने आना शुरू हुई। इसी दौरान राज्य में मछली पालन के क्षेत्र में सरकार के नियंत्रण को बढ़ाने के मकसद से सहकारिता की व्यवस्था को विस्तार दिया गया। मकसद यह था कि यदि मछली पालक (जैसे-ढीमर और केवट) संगठित और संस्थागत रूप से मछली व्यवसाय करेंगे तो उन्हें मछली के बीजों सहित कुछ अनुदान और तकनीकी उपकरणों की उपलब्धता सुनिश्चित की जायेगी। यह भी कहा गया कि इससे मछुआरे ठेकेदारों के चुंगल से निकल पायेंगे; परंतु जमीनी सच्चाई कुछ और है। सिंदूर सागर के पंचायत के मौजा (भू-भाग) में आने वाले सिंदूर सागर तालाब

पर मछली पकड़ने और फायदा कमाने का अधिकार ढीमरपुरा गांव के लोगों की सहकारी समिति को दे दिया गया क्योंकि वे प्रभावशाली थे और उन्होंने दस्तावेजों में यह सिद्ध कर दिया कि सिंदूर सागर में कोई ढीमर परिवार रहता ही नहीं है। आज एक ही समुदाय के दो गांव एक दूसरे के दुश्मन बने बैठे हैं। टीकमगढ़ जिले में आज 98 पंजीकृत समितियां हैं पर राजनैतिक दखल अंदाजी और बढ़ते पर्यावरणीय संकट के फलस्वरूप अब लगभग हर समिति टकराव और विवाद के दायरे में फंसी हुई है। बुंदेलखंड में तालाबों की परंपरा जीवनयापन के साधनों की शृंखला रही है। इससे कृषि, मछली पालन और पशुपालन जैसे आजीविका के अहम स्रोत जुड़े हुये हैं। तालाब से नहरों या नालियों के जरिये बहने वाले पानी का उपयोग सिंचाई के लिये और तालाब के मुख्यक्षेत्र में रुके हुये पानी का उपयोग मछली पालन और पशु उपयोग के लिये किया जाता है। सूखे के संकट ने किसान, पशु पालक और मछली पालकों को एक दूसरे के सामने दुश्मनों की तरह ला खड़ा किया है।

सिंदूर सागर के ही किसान ढीमर समुदाय के हकों की लड़ाई में उनके साथ खड़े होने को तैयार नहीं हैं तो आक्रामक और कभी-कभी हिंसक तेवर दिखाकर ढीमरपुरा के 25 परिवारों ने तालाब की जमीन को ही जोतना शुरू कर दिया है। बुजुर्ग गैबू रैकवार कहते हैं कि "तालाब की जमीन पर जब किसी का हल चलने लगता है तो फिर उसकी मंशा उस पर कब्जा कर लेने की होती है। तब तालाब कभी पुनर्जीवित हो पाये, इसकी संभावना जरा कम ही होती है? धनीराम ढीमर कहते हैं कि हमने किताबें कभी नहीं पढ़ी हैं पर यह जरूर समझ पाये हैं कि पहले राजवंश (यानी राज्य) जल स्रोतों का निर्माण और संरक्षण करते थे। वे जानते थे कि दुश्मन के आक्रमण से तो निपटा जा सकता है परंतु पानी और अनाज का संकट राज्य के भीतर अशांति पैदा कर देगा जिसे संभाला नहीं जा सकता है। पर आज का राज्य इस ताने-बाने को समझ ही नहीं पा रहा है और भुखमरी के हालात पैदा हो रहे हैं। पांच साल पहले जब खुले बाजार में 25 रुपये मजदूरी मिलती थी तब ढीमर परिवार मछलियां पकड़ कर 60 से 75 रुपये कमा लेते थे। अब उनके पास कोई विकल्प नहीं बचा है। पहले सरकारी समितियों के जरिये कुछ परिवारों को फायदा मिला तो बाद में सूखे ने उन्हें भी तोड़ दिया। टीकमगढ़ जिले में 7600 ढीमर और केवट परिवार पूरी तरह से मछली पालन पर निर्भर रहे हैं। आज हर परिवार के युवा और सहारा दे सकने वाले सदस्यों को पलायन का रास्ता इच्छित्यार करना पड़ रहा है। धनीराम लंबी सांस भर कर कहते हैं कि दिल्ली, आगरा कौन जाना चाहता है, वहां हमारी अपनी थोड़े कोई जिंदगी है। हम तो यहां रोजगार से ज्यादा कोई उम्मीद नहीं रखते। गांव के पचास रुपये दिल्ली के दो सौ रुपये से ज्यादा होते हैं। वहां की गंदी बस्तियों, शोषण और पुलिस की दुत्कार से तो मुक्ति की तो कोई कीमत ही नहीं हो सकती है। सीताराम परिवार के 12 लोगों के साथ हरियाणा के बालगढ़ गए थे। सभी लोगों ने वहां मजदूरी की फिर भी ठेकेदार ने उनकी 18 हजार रुपये मजदूरी में से केवल 2000 रुपये दिये और काम से निकाल दिया। तीन दिन तक

आंसू नहीं थमें इस परिवार के। रामदास रैकवार के भाई लक्ष्मण पूरे परिवार के साथ पांच महीने से निकले हैं पर किसी को पता नहीं है कि वे कहां हैं ? जब आयेंगे तभी पता चलेगा कि जिंदा भी हैं या नहीं ?

सरकार दावा करती है कि पिछले 3 सालों में 7585 करोड़ रुपये के ऋण बांटे गए हैं। गांव के 170 परिवारों के पास 2 से 10 बीघा जमीन है पर एक भी परिवार उन 29 लाख परिवारों में शामिल नहीं है जिन्हें किसान क्रेडिट कार्ड मिले हैं। ऐसे में रतन लाल को जब टीकमगढ़ में कहीं कर्ज नहीं मिला तो वे उत्तरप्रदेश के नोहटा गांव से अपने रिश्तेदारों की गारंटी पर 7 फीसदी मासिक ब्याज दर पर दिल्ली जाने के लिये दस हजार रुपये लेकर आये थे। दिल्ली गये और 8 दिन रहे भी। काम न मिलने पर वापस भी आ गये कर्ज का दोहरा बोझ लेकर।

मझौरा की महिलाओं को गांव के पास सवा तीन सौ फिट पहाड़ी के नीचे उतरकर एक कुण्ड में पानी लेने जाना पड़ता है। इस कुण्ड में बस इतना ही पानी रहता है कि साल भर में 10 माह छोटे बर्तन या कटोरी से भर-भरकर वे पानी इकट्ठा करते हैं। पानी भी ऐसा कि हजारों की संख्या में छोटे-छोटे कीड़े तैरते हुए नंगी आंखों से देखे जा सकते हैं। मझौरा के लोग भी देखते हैं और कीड़े देखकर भी उसी पानी को पीते भी हैं। करें भी तो क्या करें। जुलाई 2009 में इस पानी को पीने से हैजा फैला। सोमवती की हैजे से मौत हुई, 48 लोग अस्पताल तक पहुंचे, अब भी 6 लोग बीमार है। यहां नरेगा के तहत केवल एक कुआं खोदा गया है, जिसमें बारिश में कुछ दिन पानी रहता है। वह भी पीने लायक नहीं है। बताया जाता है कि यहां तीन साल में 40 लाख रुपये खर्च हुए पर पीने को पानी नहीं मिला। गौरी शंकर यादव कहते हैं इस भारी विपदा के वक्त भी सरकार साथ नहीं दे रही। आज गांव का हर छोटा-बड़ा किसान भी रोजगार चाहता है। कई मर्तबा मांगा भी पर काम न मिला। 'हम तो आजीविका के खुद के साधन चाहते हैं, इसलिये खेती पर खूब जोर मारते हैं' मझौरा का हर व्यक्ति यही कहता है। इसी गांव के बिंद्रावन ने अपनी 4 एकड़ जमीन के लिये 3500 रुपये के बीज, 2400 रुपये के कीटनाशक और 3500 रुपये के उर्वरक उधारी में लिये थे। एक रुपये का उधार लेने का मतलब है 2 रुपये चुकाना। इन तीन महीनों में न तो खेत उगे, न दूसरे विकल्प से आय हुई। आज सबसे बड़ी समस्या रोजगार की है। सरकार चाहती ही नहीं कि गांव में रोजगार हो और लोग अपनी जमीन पकड़ कर बैठे रहें। गांवों में रोजगार नहीं रहा और शहरों में उनके लिए न ठौर-ठिकाना है न रोजगार। जाएं तो कहां जाएं? करें तो क्या करें ?



बुंदेलखंड के खेतों में भूख उपज रही है !

वर्ष 2003-04 में बुंदेलखंड क्षेत्र ने 2.045 मिलियन टन अनाज का उत्पादन किया था, यह वर्ष 2006-07 में 44.67 फीसदी गिरकर महज 1.13 मिलियन टन रह गया। इसी अवधि में कृषि उपज भी 1035 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर से गिरकर 806 किलोग्राम तक पहुंच गई। मध्यप्रदेश भोजन का अधिकार अभियान तथा मप्र आपदा निवारण मंच की ओर से बुंदेलखंड के मप्र से जुड़े क्षेत्रों के एक अध्ययन से यह बात सामने आई है। मध्यप्रदेश के छह जिलों में फैले इस क्षेत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक समुदाय के लिए यह खाद्य संकट का बड़ा कारण बनता जा रहा है। टीकमगढ़ जिले के सरकारी आंकड़ों के मुताबिक पिछले साल (2008) यहां रबी की 18 फीसदी और खरीफ की महज 24 फीसदी खेती ही हो पाई है। वहीं ग्रामीणों का कहना है कि दोनों फसलों के लिए यह आंकड़ा 10 फीसदी से ज्यादा का नहीं है। सरकारी दस्तावेजों के मुताबिक इस क्षेत्र में वर्ष 2007 में 349 मिलीमीटर बारिश दर्ज की गई थी जो सामान्य बारिश (972 मिमी) से 64 फीसदी कम है। यहां बारिश का आंकड़ा वर्ष 2003-04 से निरंतर गिरता ही जा रहा है। लेकिन यहां अनाज उत्पादन वर्ष 2003 के 19,75,000 टन से गिरकर वर्ष 2006 में 14,03,400 टन तक पहुंच गया जो इस दौरान 28.95 फीसदी की गिरावट बताता है। इसी अवधि में यहां कुल उत्पादन में 43.11 फीसदी की गिरावट दर्ज की गई इससे प्रति हैक्टेयर उत्पादन में औसत 22.13 फीसदी की गिरावट का अनुमान लगाया गया है। इसके उलट समूचे मध्यप्रदेश में इसी अवधि में अनाज उत्पादन में 13.86 फीसदी की गिरावट दर्ज की गई है। इससे साफ पता चलता है कि इस गिरावट का करीब आधा हिस्सा बुंदेलखंड के हिस्से आता है। बुंदेलखंड के लिए सूखे का मतलब केवल पानी का अभाव ही नहीं है बल्कि भूख और भुखमरी है।

अनाज उत्पादन व पैदावार की स्थिति : मध्यप्रदेश बनाम बुंदेलखंड
(उत्पादन टन में तथा उत्पादकता किलोग्राम प्रति हैक्टेयर)

जिला	2003-04		2004-05		2005-06		2006-07		2007-08		5 सालों में दर्ज गिरावट	
	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता
छतरपुर	433500	1149	426100	1106	372300	966	181800	743	76500	544	82.35	52.65
टीकमगढ़	385000	1335	280300	1015	227600	883	89300	683	52700	541	86.31	59.47

पन्ना	194500	730	183400	659	211500	754	140000	654	135000	680	30.59	6.84
सागर	424400	854	406400	820	402600	818	293900	832	274600	642	35.29	24.82
दमोह	309300	904	296200	870	308900	913	260000	809	239500	844	22.56	11.06
छतिया	298300	1464	235700	1244	256200	1398	166500	1196	128500	1122	56.92	23.36
बुंदेलखंड	2045000	1035	1828100	889	1779100	919	1131500	806	906800	718	55.65	30.62
मध्यप्रदेश	15956900	1248	14292700	1140	13484200	1134	13745200	1168	12273900	1087	23.08	12.98

बुंदेलखंड लंबे समय से गेहूं उत्पादन में अहम् भूमिका निभाता आया है। वर्ष 1999–2000 में बुंदेलखंड के इन छह जिलों ने मध्यप्रदेश की गेहूं की कुल पैदावार में 14.35 फीसदी का योगदान किया था। लेकिन पिछले साल यह आंकड़ा गिरकर महज 7.17 फीसदी तक पहुंच गया यानी ठीक आधा रह गया है उत्पादन। गेहूं उत्पादन में यह गिरावट केवल पिछले साल की ही नहीं है, पिछले 8 वर्षों से जारी है। इस दौरान मध्यप्रदेश में जहां गेहूं के उत्पादन में 16 फीसदी की गिरावट दर्ज हुई वहीं बुंदेलखंड में यह 58 फीसदी तक पहुंच गई। फिर भी खाद्यान्न उत्पादन के लिये सरकार कोई संरक्षण नीति सामने नहीं ला रही है।

गेहूं की उत्पादकता में कमी : बुंदेलखंड बनाम मध्यप्रदेश
(किलोग्राम प्रति हेक्टेयर)

जिला	1999–00	2000–01	2001–02	2002–03	2003–04	2004–05	2005–06	2006–07	2007–08	9 सालों में उत्पादकता में आई गिरावट
	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	
छतरपुर	1892	1538	155096	1244	1789	1771	1469	1276	1012	–33
टीकमगढ़	2187	1838	113185	1587	2167	1702	1393	1417	1225	–35
पन्ना	1136	792	93051	808	1165	1111	1057	984	1028	–13
सागर	1159	773	265925	433	1183	1101	1111	1015	1020	–12
दमोह	1479	1035	109315	705	1542	1507	1553	1323	1518	–11
दतिया	2654	2462	69076	1857	2565	2117	2249	1797	1709	–32
बुंदेलखंड	1654	1308	1532	1352	1633	1454	1360	1184	1184	–28
मध्यप्रदेश	1863	1471	1620	1461	1879	1821	1710	1915	1683	–9.66

स्थानीय किसानों के मुताबिक गेहूं उत्पादन में गिरावट का मुख्य कारण क्षेत्र में समुचित सिंचाई सुविधाओं की कमी है। समूचा बुंदेलखंड प्रत्यक्ष या परोक्ष सिंचाई के लिए बारिश पर ही निर्भर है। हालाँकि यहां सिंचाई के पानी का मुख्य स्रोत कुआं है लेकिन कुएं में पानी की मात्रा भी बारिश पर ही निर्भर करती है। जल संसाधन विभाग के दस्तावेजों के मुताबिक 2006 में सिंचाई के लिए टीकमगढ़ में 65 फीसदी, छतरपुर में 61 फीसदी व पन्ना जिले में 44 फीसदी परिवार कुएं पर निर्भर थे। पिछले चार-पांच सालों में बारिश कम या बिलकुल न होने के चलते क्षेत्र के करीब सभी कुएं सूख चुके हैं।

केंद्रीय भूजल बोर्ड के आंकड़ों के मुताबिक पिछले 10 सालों में टीकमगढ़ के 35.32

फीसदी कुओं का पानी दो मीटर तथा 8.86 फीसदी कुओं का पानी चार मीटर से भी ज्यादा नीचे जा चुका है। ऐसी हालत में किसी भी किसान के लिए खेती से अपनी आजीविका कमाना अकल्पनीय है। कई वर्षों तक खेती से गुजर-बसर करने वाला लखन अब कर्ज में डूबा हुआ है। लखन ने 2004 में 3 लाख का कर्ज लिया था, जिसमें से एक लाख अगले साल चुका दिया। लेकिन उसके बाद लगातार खेती चौपट होने से वह बैंक को एक भी किश्त अदा नहीं कर पाया है। आज हालत यह है कि बकाया कर्ज और ब्याज मिलकर मूल कर्ज से ज्यादा हो गए हैं। लखन बताता है कि उसके खेतों में 70 से 80 क्विंटल की उपज होती थी जिससे साल में वह डेढ़ लाख तक कमा लेता था लेकिन पिछले साल से खेतों से धेले भर की कमाई भी नहीं हुई है।

बुंदेलखंड के गांवों के दुख का अंत कृषि या जल संकट अथवा पशुओं के पिछड़ने तक ही सीमित नहीं है। टीकमगढ़ के निवाड़ी ब्लाक में कैना गांव के रतिराम के पास दो एकड़ जमीन है। पिछले छह महीने में रतिराम पर बिजली विभाग के 42 हजार का कर्जा हो गया है। यह बात अलग है कि ग्रामीणों के मुताबिक बीते तीन बरसों से गांव में बिजली आई ही नहीं है। और तथ्य यह है कि छह साल पहले गांव से पावर लाइन हटा ली गई थी।

**गेहूं की उत्पादकता में कमी : बुंदेलखंड बनाम मध्यप्रदेश
(टन में)**

जिला	1999-00	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	2006-07	2007-08	9 सालों में उत्पादकता में आई गिरावट
	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	
छतरपुर	274633	203349	238501	192925	249600	243700	200200	89100	24700	-68
टीकमगढ़	280435	212894	207982	179638	250300	174800	126300	39900	16500	-86
पन्ना	92151	55502	73728	75166	78900	76700	71800	47000	38600	-49
सागर	264891	155152	205677	115079	183700	173100	174700	161400	127300	-39
दमोह	147530	89183	113192	77098	96600	97800	102800	81100	90700	-45
दतिया	186801	160887	170064	128287	180900	139100	158800	104900	82700	-44
बुंदेलखंड	1246441	876967	1009144	768193	1040000	905200	834600	523400	380500	-69.47
मध्यप्रदेश	8685197	4869362	6000966	4923414	7364600	7327400	6199700	7325900	6032500	-30.54

बीते एक दशक से मध्यप्रदेश सरकार बुंदेलखंड क्षेत्र में औद्योगिकीकरण व बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आमंत्रित कर प्राकृतिक संसाधनों के शोषण को बढ़ावा देने में जुटी है। इस सिलसिले में वर्ष में सागर में हुए निवेशक सम्मेलन में 29548.91 करोड़ रुपए (करीब 7.413 बिलियन अमेरिकी डॉलर) के 36 समझौतों पर दस्तखत किए गए हैं। इनमें से अधिकांश निवेशक यहां स्टील प्लांट, सीमेंट जैसे खनिज अयस्क आधारित उद्योग विकसित करने के इच्छुक हैं। बहरहाल, यहां निवेश के लिए मंजूर कुल

245918.91 करोड़ (करीब 61.695 बिलियन अमेरिकी डॉलर) रुपयों में एक धेला भी कृषि क्षेत्र के लिए निर्धारित नहीं किया गया है।

सोची-समझी रणनीति के तहत मध्यप्रदेश में निवेश के लिए केन्द्रीकृत सेज (विशेष आर्थिक क्षेत्र) पर तो कोई बड़ी पहल नहीं की जा रही है, लेकिन निजी औद्योगिक घरानों को बुलाकर विकेंद्रित सकल आर्थिक क्षेत्र को बढ़ावा दिया जा रहा है। सरकार उन्हें विकास के नाम पर पानी, बिजली व अन्य तमाम सुविधाएं देने का वादा कर रही है। अब तक हुए चार निवेशक सम्मेलनों, खजुराहो, इंदौर, जबलपुर व सागर में, 245918.91 करोड़ रुपयों के 217 सहमति पत्रों पर दस्तखत किए जा चुके हैं।

12 अप्रैल, 2008 को हुए बुंदेलखंड निवेशक सम्मेलन में स्टील व पावर प्लांट के 9345 करोड़ रुपयों के छह समझौतों, सीमेंट प्लांटों के 7300 करोड़ रुपयों के पांच, इस्पात व लौह अयस्क के 8875 करोड़ के 11, कुकिंग कोल व अलुमिना के 1000 करोड़ व 1500 करोड़ के दो, जैट्रोफा प्लांटेशन व बायो डीजल के 1130 करोड़ के 8 तथा रॉक फास्फेट, शक्कर, एथेनाल व शिक्षा पर 398.91 करोड़ के चार समझौतों पर दस्तखत किए गए हैं। यहां एक सीधा सा सवाल पूछा जा सकता है कि अगर इन समझौतों पर अमल होता है तो बुंदेलखंड की खेती, जल संसाधनों, जंगलों व सामाजिक आजीविका क्षेत्रों का क्या होगा। सरकार की नजरें इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सस्ती जमीन की उपलब्धता, कच्चा माल, प्राकृतिक संसाधन, सस्ता मजदूर श्रम, खनन लाइसेंस आदि पर टिकी हैं। पता नहीं सरकार इस बात का आकलन करने में चूक गई है कि इन निवेशों व गतिविधियों का यहां की जमीन, जल संसाधनों व कृषि पर क्या दूरगामी असर होगा या सोची-समझी रणनीति के तहत ऐसा कर रही है।

यह और भी आश्चर्य की बात है कि सरकार इन निवेशों को बुंदेलखंड में सूखे की समस्या से निपटने के समाधान के रूप में देख रही है। उसका मानना है कि इन निवेशों के जरिए बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर सृजित होंगे जिससे स्थानीय लोगों की बदहाली दूर हो जाएगी। रियोटिंटो, जेपी सीमेंट के द्वारा किये गये निवेशों से स्थानीय समाज की जिंदगी में कोई बदलाव नहीं आया है। न ही बहुतांश को रोजगार ही उपलब्ध करवाया है। फिर जब लोग रोजगार मांगते हैं तो उन पर बंदूक चला दी जाती है। वर्तमान में, जब देश और खासकर बुंदेलखंड की अर्थव्यवस्था अभी भी बड़े पैमाने पर कृषि पर निर्भर है, स्थानीय युवाओं को नए तरह के रोजगार में अपना हुनर सिखाने के लिए काफी भारी निवेश की जरूरत पड़ेगी। वहीं दूसरी ओर सूखे के चलते ग्रामीणों की सम्मानजनक ढंग से जीने की आशाएं बिखर सी गई हैं; इसमें बिजली की लगातार कटौती उनके दुखों को और बढ़ा ही रही है। उधर सरकारी अधिकारियों का यह कहना जले पर नमक छिड़कने के समान है कि जहां खेती ही नहीं होती वहां बिजली की क्या जरूरत है !

जीने की कला सिखाता 'पातालकोट'

‘माना पहले तुम्हीं आये थे पर इसके क्या मानी,
उतने तो घट सिर्फ तुम्हारे जितना नद में पानी,
और कई प्यासे हैं, उनका भी तो सूखा हुआ गला है
जीना भी एक कला है
बिना इसे सीखे ही मानव बनने कौन चला है?’

भूख से त्रस्त तीसरी दुनिया के देशों के समाज के लिए पातालकोट जीवन का पाठ पढ़ाने वाली अद्भुत पाठशाला है। यहां का आदिवासी आज भी दुनिया भर में पूरी तरह भूखे पेट सोने वाले 100 करोड़ लोगों में शामिल नहीं हैं। इन आदिवासी परिवारों की जिन्दगी की दो-तिहाई से ज्यादा बुनियादी जरूरतें स्थानीय संसाधनों से पूरी हो जाती हैं तो फिर बाजार के जाल में क्यों फंसे? बाजार की मार से बचे हुए हैं तो भूख की मार से भी बचे हुए हैं। आम तौर पर माना जाता रहा है कि कटोरेनुमा यह इलाका वास्तव में समुद्र तल के भीतर बसा हुआ है—पाताल में बसा हुआ है, इसीलिए पातालकोट है। पर वास्तविकता यह है कि पातालकोट में सबसे गहराई पर बसा हुआ गांव भी समुद्र तल से 500 मीटर की ऊंचाई पर है। यह पूरा अंचल सतपुड़ा की पहाड़ियों की तह में जमीनी सतह से लगभग 3000 फिट की गहराई तक बसा हुआ है। लगभग 1000 मीटर की ऊंचाई से गांवों की पूरी बसाहट पाताल की तलहटी सी लगती है। इसीलिए यह इलाका पातालकोट कहलाता है। यहां पहुंचने के रास्ते नजर नहीं आते पर इंसानी समाज की हलचल दिखाई — सुनाई देती है। यहां के गांवों की जड़ तक पहुंचने के लिये पहाड़ी, ढलाऊ, संकरे और घने जंगल के बीच बनी पगडंडियों से गुजरना पड़ता है। दूर-दूर तक कोई समतल जमीन नहीं नजर आती है। अद्भुत अच्छी खुबसूरत दुनिया है यह!

मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिला मुख्यालय से 78 किलोमीटर दूर बसे गांवों के इस समूह में रातेड़, चिमटीपुर, गुज्जा डोंगरी, सहारापछगोल, हर्ना का छार, सूखाभंड, धोरनीमालिनी, झिरन, पालनी, गैलडुब्बा, घटलिंगा, गुड़ी छतरी, गैलडुब्बा—करियाम, घाना आदि गांव शामिल हैं। उनका रहन—सहन, खान—पान, रोटी—रोजगार, संस्कृति—संस्कार, परम्परा और स्वास्थ्य व्यवस्थाएं ...सब कुछ पूरी तरह से जंगल और प्राकृतिक संसाधनों से संचालित होते हैं। ये गांव बिना कुछ कहे बता देते हैं

कि भारिया और गोंड आदिवासियों ने किस तरह जीवन की तकनीक को प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों के साथ बुना है। ऐसा लगता है जैसे प्रकृति स्वयं कह रही हो, 'पातालकोट आए हो तो जीने की कला सीखते जाओ'।

गैलडुब्बा गांव को इस पातालनुमा दुनिया का एक प्रवेश द्वारा माना जा सकता है। कुछ सालों पहले तक माना जाता था कि धरती की सतह से कई सौ मीटर नीचे बसे इन गांवों तक सूरज की रोशनी भी नहीं पहुंचती है। यह तो सच नहीं है परन्तु यह जरूर एक सच्चाई है कि 1970 के दशक तक पातालकोट में बसे 12 गांवों के गोंड और भारिया आदिवासी परिवार जंगली बेलों के झूले बनाकर कभी-कभार धरती की सतह पर बसी दुनिया तक आते थे। 1980 के अंत में पहली बार यहां रातेड़ गांव तक पहुंचने के लिए सरकार ने सीमेंट की सीढ़ियाँ बनाई थी। इस क्षेत्र को बौने लोगों की दुनिया भी कहा जाता रहा है, क्योंकि जब ऊँचाई पर बसा समाज उन्हें देखता तो वहां (पातालकोट के गांवों के) आदिवासी दूरी के कारण बौने ही नजर आते थे। पातालकोट के 12 गांव 25 बस्तियों में बंटे हुये हैं। पहाड़ी कंदराओं में दक्षिणी दिशा में ज्यादातर गांव ज्यादा गहराई में बसे हुये हैं। यहां पहाड़ी रास्तों का ढलान 80 से 90 डिग्री के कोण के आस-पास आता है। यहां दो महत्वपूर्ण नदियां दूधी और भोल्की हैं। इसमें से दूधी बड़ी है और दक्षिण से उत्तर की तरफ बहती हुई आगे जाकर नर्मदा में मिल जाती है। यहां की 99.97 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी है जिनमें 80 प्रतिशत भारिया और 20 प्रतिशत जनसंख्या गोंड आदिवासियों की है। 117.25 किलोमीटर के इस क्षेत्र में 88 किलोमीटर का इलाका ढलान पर 19.25 किलोमीटर खड़ी चट्टानों पहाड़ियों पर और 10 किलोमीटर का इलाका घाटी में फैला हुआ है।

इनकी आजीविका के मुख्य स्रोत कृषि और लघुवनोपज हैं। ये पारम्परिक तकनीकों से खेती करते हैं। इनका मानना है कि धरती इनकी माँ है और माँ के सीने पर घात नहीं किया जाता है। इसलिये ये खेती में भी हंसिया, खुरपी जैसे छोटे औजारों का उपयोग करके रोपण तकनीक से खेती करते रहे हैं। हल या ट्रैक्टर का उपयोग नहीं किया जाता। अब इन तरीकों में थोड़ा बदलाव आया है पर इस इलाके में अब भी कोई ट्रैक्टर नहीं है। कुछ समय पहले ही यहां पहली बैलगाड़ी देखी गई। उन्हें अनाज और बीज संग्रहीत करने के लिये वातानुकूलित संयंत्र की जरूरत नहीं पड़ती है, सैंकड़ों सालों से पूस और घास के ढांचे में इन्हें सुरक्षित रखते आए हैं। विकास और संघर्ष की जद्दोजहद के बीच पातालकोट में भारिया आदिवासी समुदाय ने इस सिद्धान्त का पुनर्स्थापन किया है कि अपनी जरूरतों का असीमित विस्तार किये बिना जीवन को आनंद के साथ जिया जा सकता है। तक्षशिला कहती है हमें गाड़ी और टीवी नहीं चाहिये, हम तो वैसे ही खुश हैं, सुखी हैं। खेती की थोड़ी सी जमीन है। घर के आसपास सब्जी उगती है। जंगल से चिरौंजी, महुआ और शहद मिलता है। भू-जल भी पर्याप्त है। पानी का दुरुपयोग जो नहीं हुआ। पर वह पूछ बैठती है, 'आप लोग यहां क्यों आये हो'? भय झलकता है इस सवाल में। वह इस बात से

वाकिफ है कि पिछले 6 दशकों में पूरी दुनिया पर विकास की एक ही परिभाषा थोपने की कोशिश हो रही है और उसकी मुखालफ़त करने वाली हर आवाज को दबा दिया जाता है।

79 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में बसे पातालकोट की अपनी ही अर्थव्यवस्था है। सिधौली गांव के प्रताप भारती (भारिया) बताते हैं कि यहां के जंगलों में 250 से ज्यादा किस्म की औषधियाँ और औषधीय पौधे पाये जाते हैं। ये तो वे पौधे हैं जिन्हें हम जान पाये हैं। इस जंगल में हर कुछ एक संपदा है। हमारे समाज के जानकार इन औषधीय वनस्पतियों से 42 बीमारियों का इलाज करने में सक्षम हैं। वर्ष 1997 से यहां काम कर रही संस्था मध्यप्रदेश विज्ञान सभा के डॉ. अजय खरे कहते हैं कि स्वास्थ्य की यह पारम्परिक व्यवस्था बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि पूरी दुनिया में आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर समाज को सबसे ज्यादा खर्च करना पड़ रहा है। कई बार तो यह लगता है कि हमारे तथाकथित मुख्यधारा के समाज में लोग बेतहाशा कमाते ही इसलिए हैं कि वे इलाज करा सकें पर पातालकोट के आदिवासियों के समाज में ही यह ज्ञान है। आमतौर पर इलाज की जिम्मेदारी निभाने वालों को यहां भुमका कहा जाता है। हमने कोशिश की है कि इस पारम्परिक ज्ञान को थोड़ा व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाया जाये क्योंकि कई बार अंधविश्वास और पारम्परिक वैज्ञानिक ज्ञान के बीच का अंतर खत्म होता दीखता है, इस अंतर को हम इसी समाज के सामने ला रहे हैं।

वे जंगल को पूजते हैं। कहते हैं कि जब प्रकृति और जंगल हमारे पास है तो चारदीवारी में सम्पत्ति इकट्ठा करने का कोई मतलब नहीं है। जहां तक पारिवारिक अर्थव्यवस्था का सवाल है यहां का आर्थिक और प्राकृतिक व्यवस्था चक्र बेहद रोचक है। ये आदिवासी पूरी तरह से जंगल पर निर्भर होकर जी सकते हैं, ऐसा लगता है। जनवरी-फरवरी-मार्च में उन्हें जंगल से हर्षा-आंवला मिलता है, अप्रैल तक महुआ का संग्रहण होता है और माहुल के पत्ते (पत्तल-दोने बनाने के काम आने वाले) इकट्ठे होते हैं, जून में महुये का बीज मिलता है, फिर अक्टूबर तक शहद और दिसम्बर तक इमली इकट्ठा होती है।

महुआ पातालकोट के समाज और अर्थव्यवस्था में अहम भूमिका निभाता है। सामान्यतः महुआ की जब भी बात होती है तो गैर-आदिवासी समाज के सामने एक ही तस्वीर उभरती है — जंगल में रहने वाला आदिवासी समाज महुये की शराब बनाने और पीते रहने वाला समाज है। उनका काम है पीना और जीना। प्रताप भारती बताते हैं कि महुआ केवल शराब का साधन नहीं हैं, यह एक पोषक तत्व है। हमारे समाज की खाद्य व्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा है। डॉ. अजय खरे के मुताबिक विज्ञान सभा के विगत 12 वर्षों के अध्ययन में हमने यही पाया है कि महुआ पातालकोट में खाद्य सुरक्षा का स्रोत तो है ही, उनकी आय में भी इसकी अहम भूमिका है।

महुआ आमतौर पर मार्च के महीने में अल-सुबह अंधेरे में इकट्ठा किया जाता है क्योंकि सूर्योदय के बाद जानवर इसे खा जाते हैं। ऐसे में जरूरी होता है कि लोग रातभर में गिरे हुये महुये को सुबह चार बजे के आस-पास इकट्ठा करना शुरू करें और 4-5 घंटे में अपना काम पूरा कर लें। इसे छांव में सुखाया जाता है और फिर इसकी किशमिश बनती है। आदिवासी इसे कई तरीकों से उपयोग में लाते हैं। पहले बिचौलिये 4-5 रुपये किलो के हिसाब से आदिवासियों से महुआ खरीद लेते थे। अब थोड़ा संगठित प्रयास होने से उन्हें तीन से चार गुना ज्यादा कीमत मिल रही है। पातालकोट में महुआ के लगभग सवा दो हजार पेड़ हैं जिनसे लगभग 500 क्विंटल महुआ निकलता है। इसकी कीमत लगभग 7 लाख रुपये के आसपास होती है।

शहर वाले पिछले 6-8 सालों से बड़े होटलों या बाजारों में महंगे पकवान के रूप मशरूम अपनी थाली में सजाने लगे हैं। पर यह मशरूम सैकड़ों सालों से भारिया आदिवासियों के भोजन का हिस्सा रहा है, वह भी एक-दो तरह के नहीं कई तरह के मशरूम। इसी तरह जड़, मादल, रातेड़, सीझोड गांव ऐसे हैं जहां शहद की उपलब्धता भी बड़ी मात्रा में है। भारिया आदिवासी बरसों से शहद इकट्ठा करते रहे हैं। विज्ञान सभा ने शहद संग्रह का काम न केवल वैज्ञानिक बनाने में मदद की बल्कि उसे उनकी आजीविका का हिस्सा भी बनाया। पहले आदिवासी आग जलाकर मधुमक्खी के छत्तों से शहद निकाला करते थे परन्तु अब एक विशेष वेशभूषा पहनकर मधुमक्खी और उनके छत्ते को बिना नुकसान पहुंचाये वे शहद इकट्ठा कर लेते हैं। इसका फायदा यह हुआ कि अब एक ही छत्ते से वे तीन-चार बार तक शहद निकाल लेते हैं और मधुमक्खियों के वहां रहने के कारण परागण में भी कोई कमी नहीं आती है जिससे खेती, पर्यावरण और जंगल का संरक्षण भी होता है। आमतौर पर शहद निकालने का काम वर्ष में दो बार (मई-जून और सितम्बर-अक्टूबर में) होता है।

सतपुड़ा के इन जंगलों में चिरौंजी (अचार) के वृक्षों की भी अच्छी-खासी संख्या है। अकूत कमाई का स्रोत हो सकने की क्षमता के बावजूद पातालकोट की अर्थव्यवस्था में चिरौंजी केवल बाजार में बिकने वाला मेवा नहीं है बल्कि प्रकृति के प्रति सम्मान का प्रतीक भी है। समाज ने तय किया है कि हर परिवार का, जो चिरौंजी इकट्ठा करते हैं, 15 से 40 चिरौंजी के पेड़ों पर अधिकार होता है। वही परिवार उन पेड़ों की चिरौंजी इकट्ठा कर सकता है ताकि समानता रहे और विवाद न हो। उन सारे पेड़ों के संरक्षण-देखभाल की जिम्मेदारी भी उन्हीं परिवारों की होती है। घटलिंगा के क्षेत्र में आप खूब खट्टी-खट्टी इमली देख सकते हैं जो अक्टूबर से दिसम्बर के महीनों में इकट्ठा की जाती है। जंगलों से ही इन परिवारों को कई तरह के फल और कंदमूल भी मिलते हैं। एक आकलन के मुताबिक पातालकोट में इस प्राकृतिक अर्थव्यवस्था से एक परिवार औसतन लगभग 8 से 12 हजार रुपये की मुद्रा तो अर्जित कर ही लेता है साथ ही अपने परिवार की इससे दो-गुनी जरूरतें भी पूरी कर लेता है।

एक दशक पहले तक इस पूरे इलाके के कुल उत्पादन में केवल 2 प्रतिशत हिस्सा गेहूं का हुआ करता था परन्तु घटलिंगा और गुढ़ी छतरी की जमीन और पानी की उपलब्धता को देखते हुये यहां गेहूं के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया, आज 368 परिवारों में 210 से ज्यादा परिवार गेहूं का उत्पादन कर रहे हैं। 'स्थानीय विविधता और पर्यावरण हमेशा महत्वपूर्ण है' यह कहते हैं डा. अजय खरे। वे बताते हैं कि हमने गेहूं के साथ-साथ अरण्डी और सब्जियों के उत्पादन को बढ़ावा देने की कोशिश की। अब हर जगह गेहूं और सब्जी का उत्पादन हो रहा है पर स्थानीय व्यवस्था के अनुरूप न होने के कारण अरण्डी को बढ़ावा नहीं मिला, एक साल बाद उसका उत्पादन बंद हो गया। उनकी जीवन शैली ऐसी नहीं है जो कार्बन डाईआक्साइड या ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन करती हो। वे पानी भी बर्बाद नहीं करते। वहां धरती में भी पानी है और लोगों की आंखों में भी। लगता है जैसे रहीम के इस दोहे को पूरी तरह आत्मसात कर रखा हो:

‘रहीमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न उबरें, मोती मानुष चुन।।’

आज पातालकोट के भारिया और गोंड आदिवासियों की भोजन व्यवस्था में गेहूं, मक्का, कनकी, अरहर, कुटकी अनाज के रूप में और बल्लर, कद्दू, कुम्हड़ा, रेधू, कुंदरू, चिरौटा, रिरुआ, भूरा जैसी सब्जियाँ शामिल हैं। ये सब्जियाँ पहले यहां इतनी नहीं थी पर विज्ञान सभा ने इन्हें बीज और तकनीक देकर उत्पादन को प्रोत्साहित किया। आज हर आदिवासी परिवार सब्जियों का अपने लिये उत्पादन करता है। यह व्यवस्था उन्हें विभिन्न किस्म के पोषक तत्व प्रदान करती है। शायद इसीलिये यहां कोई भी परिवार ऐसा नहीं है जो रात में भूखा सोता हो। कुंदरू और मुनगा उनके पोषण को ऊंचा स्तर प्रदान करते हैं। कई वैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि पातालकोट के जंगल और खाद्य सुरक्षा के साथ इसके जुड़ाव से आदिवासियों को लिनोलेनिक एसिड, प्रोटीन और माइक्रोन्यूट्रिएंट (जैसे— कैल्शियम, फास्फोरस, पोटेशियम, मैग्निशियम, जिंक, कॉपर और ऑयरन) पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे देश में इन तत्वों की कमी कुपोषण का बड़ा कारण है। वे मांसाहारी हैं। बकरी, मुर्गे, भेड़ जैसे जानवरों के मांस खाते हैं। पेज उनका अहम तरल भोजन है। जिसमें वे चावल का भात, कुटकी, समा मिलाते हैं और दही का मट्ठा मिलाकर खाते हैं। एक समय में केवल यही उनका भोजन होता था। अब अनाज सहित अन्य ठोस पदार्थ भी खाने लगे हैं। प्रोटीन के लिए वे बल्लर की दाल का सतत उपयोग करते हैं। खाने के तेल के रूप में महुये की गुल्ली का तेल उपयोग में लाते हैं। यह स्थिति आज की है, बीते जमाने की नहीं।

विकास के पेंच

रातेड़ पंचायत के पंच भगलू भारती बताते हैं कि पिछले 15 सालों में हमने यहां बहुत कुछ बदलते देखा है। वर्ष 1998 में अपनी पत्नी को प्रसव के लिए अस्पताल न

ले जा सके क्योंकि सड़क नहीं थी। तब हमने यह तय किया कि सरकार चाहे-न-चाहे हम सड़क बनाएंगे। अपने अनुभव से इन्होंने अपने विकास के रास्ते बनाने शुरू किए। 26 जनवरी 1998 को पहली बार गैलडुब्बा गांव में गणतंत्र दिवस मनाया गया और उसी दिन गांव वालों ने मिलकर सड़क बनाना शुरू किया। इसके बाद उसी वर्ष पहली बार पातालकोट में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। वर्ष 1998 के पहले न तो वहां गणतंत्र दिवस मना था न ही स्वतंत्रता दिवस। सड़क बनाकर भी खुश है लोग और बाहरी दुनिया से जुड़ कर भी। साथ में माथे पर चिंता की लकीरें भी हैं। तक्षशिला पूछ बैठती है 'आप क्यों आए हो यहां' तो भगलू चिंता जताते हैं कि बाहरी दुनिया के साथ ज्यादा जुड़ने का प्रभाव स्थानीय व्यवस्था पर पड़ रहा है। नई पीढ़ी अपने पारम्परिक ज्ञान में रुचि नहीं ले रही है। शहर में आवाजाही से खर्च बढ़ रहे हैं। मोटे तौर पर हमें आज अपनी एक-तिहाई जरूरतों को पूरा करने के लिये ही मुद्रा की जरूरत पड़ती है परन्तु लगता है कि यह खर्च बहुत तेजी से बढ़ेगा। विकास के साथ-साथ ठेकेदारों, व्यापारियों की दखलंदाजी भी बढ़ रही है। सरकारी तंत्र ने वहां ठेकेदारी को बढ़ावा दिया है जिससे इलाके के जंगल खत्म हो रहे हैं। जंगल खत्म होने से औषधीय परम्परा और जैव विविधता भी खत्म हो जायेगी। भगलू कहते हैं कि दुख इस बात का है कि वन विभाग और ठेकेदार आदिवासियों से ही जंगल कटवाते हैं। सिधौली के टेकचंद ने 5 महीने तक बांध बनाने वाले कार्यक्रम में मजदूरी की पर उसका भुगतान ही नहीं किया गया। आदिवासी विश्वास करना जानता है, करता भी है; परन्तु व्यवस्था की चालबाजियों ने उसके विश्वास को तोड़ा है। पिछले दो वर्षों में यहां तपेदिक (टीबी) से दो मौतें हुई हैं। मलेरिया के मामले भी बढ़ रहे हैं, जो कि विकास की प्रक्रिया के समाज और पर्यावरण विरोधी होने के साफ संकेत हैं।

भगलू भारती कहते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार के साथ-साथ यदि हमें स्कूल, स्वास्थ्य और सड़क की सुविधायें मिल जायें तो हम विकास के सबसे सार्थक (ऊंचे नहीं) स्तर पर होंगे। इस जंगल और इस दायरे से हम बाहर नहीं जाना चाहते हैं क्योंकि हमारा मन इन व्यवस्थाओं से लगा हुआ है और मन को दुखाने वाला विकास तो बेकार है। कुछ मसले अब बड़े बनने लगे हैं। जिनमें से सबसे चिंताजनक है जंगल का कटना। विकास और संसाधनों के विस्तार के नाम पर पातालकोट के जंगल कटने लगे हैं। यदि ऐसा चलता रहा तो प्रकृति-समाज के सम्बन्धों पर रची-बसी इस अद्भुत दुनिया का अंत हो जायेगा। इस व्यवस्था को बचाये रखना इसलिये भी जरूरी है क्योंकि कल जब हम पलटकर देखना चाहेंगे तो कम से कम पातालकोट तो होगा हमें विकास की राह दिखाने के लिए। एक समय में पातालकोट का जंगल इतना सघन था कि लोग यह मान ही नहीं पाते कि वहां एक भरी पूरी सभ्यता है। सिर्फ सभ्यता ही नहीं एक सम्पूर्ण पाठशाला है जीवन की !



बैगा आदिवासी गाँव में जंगल हैं तो जीवन है !

बैगा आदिवासियों का संघर्ष ही आज बैगाचक की पहचान है। सरकार और उसकी नीतियों के विरुद्ध लड़ रहा है यह समाज अपना संसार बचाने को—पूंजीगत शोषण और पूंजीपतियों के विरुद्ध, बाजार के विरुद्ध और सरकार के विरुद्ध। इस संघर्ष में ढाबा गांव के कोठिया टोला के 18 परिवार शामिल हैं। इन्होंने अपने आसपास के लगभग 1000 एकड़ के जंगल को कटने से बचाया है। उसी का नतीजा है कि आज बैगाचक के इलाके में यहां सबसे सघन और विविधतापूर्ण जंगल है। इस संघर्ष में अहम भूमिका निभाने वाले सुक्कल सिंह आदिवासी बताते हैं कि इस क्षेत्र में सन् 1980 से 82 के बीच के वर्षों में सबसे ज्यादा वन काटे गये। तब यह देश के सबसे घने वनों का इलाका था। आदिवासी समाज ने इसे बड़े स्नेह और सम्मान से सहेजा था। इसके घनेपन का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि माहुल बेला या लेन्टाना (एक किस्म की बेल) का इतना फैलाव था कि इससे 10 बड़े पेड़ ढके होते थे और जमीन की सतह तक सूरज की रोशनी को झरने नहीं देते थे। परिणामस्वरूप यहां का वातावरण 10 तरह के कंदों, 61 तरह के वृक्षों 69 प्रकार के पक्षियों और 72 से ज्यादा तरह के औषधीय पौधों के उत्पादन के लिये आदर्श रूप ले चुका था। जीवों और जीवन से भरा जीवंत जंगल।

सरकार ने कई बार इसे हड़पने की रणनीति बनाई। सरकार जंगल के सम्पूर्ण दोहन से ज्यादा से ज्यादा राजस्व कमाना चाहती थी। उनके प्रतिनिधियों ने सत्ता की ताकत को ढाल बनाकर इन जंगलों में प्रवेश किया और बेतरतीब शोषण करना शुरू किया। सुक्कल सिंह बताते हैं कि हमारे बीच आकर उन्होंने विकास और सुविधाओं के रंगीन सपने बिखेर दिये। वे हमें बताते थे कि जब यहां सरकार, खासतौर पर वन विभाग अपने कार्यालय, अधिकारी और कर्मचारियों का तंत्र स्थापित कर देगा तो इससे यहां का जीवन बदल जायेगा। हम उनकी बातों में नहीं आते थे तो वन कानून और वन्यजीव संरक्षण अधिनियमों के जरिये आतंक फैलाया गया। तब हमें भी लगता था कि शायद यही विकास है। इससे जिंदगी बेहतर हो सकती है।

वन विभाग ने सबसे पहले माहुलीबेला को कटवाना शुरू किया। आदिवासियों से ही माहुलीबेला कटवाई गई। इससे सूरज की गर्मी भी आई और और वन विभाग का कुनबा भी। ढाबा सहित 52 गांवों में इनका विस्तार होना शुरू हुआ। माहुली बेला कट जाने के बाद जब पेड़ खुलने लगे तो उन्हें काटने के लिये बाहर के गांवों से मजदूर लाये जाने लगे। वन विभाग ने आदिवासियों को ही वन कटाई के लिये काम के लिये मजबूर किया। उन्हीं के हाथ में कुल्हाड़ी थमा दी.....और यह भी कहा कि आदिवासी ही जंगल की कटाई और बर्बादी के लिए जिम्मेदार ये ही हैं। इसलिए वन विभाग की मौजूदगी जरूरी है। वन विभाग के वर्दीधारियों ने खुद कभी कुल्हाड़ी नहीं उठाई। कोठिया टोला के शंकरसिंह पूछते हैं कि यदि आदिवासियों ने जंगल काटा है तो इस बहुमूल्य जंगल से हासिल होने वाली धन-सम्पदा हमारे पास क्यों नहीं है? हम पूंजीपति क्यों नहीं हुए? हमारे पास चारपहिया वाहन क्यों नहीं है? हमें भूखे क्यों रहना पड़ता है! कौन देगा इन सवालों के जवाब?

सन् 1980-82 में इनके सामने पहली बार खाद्य सुरक्षा और आजीविका का संकट खड़ा हुआ। वर्ष 1998 में मैकाल पर्वत शृंखला में साल के जंगलों पर साल बोरर कीट (एक ऐसा कीड़ा जो साल के वृक्ष को खोखला करके सुखा देता है) का हमला हुआ। इस बीमारी को खत्म करने के नाम पर पेड़ों को ही खत्म कर डाला वन विभाग ने। महज दो सालों में 10 लाख से ज्यादा पेड़ अंधाधुंध तरीके से काटे गये और 90 हजार हेक्टेयर से ज्यादा का जंगल साफ हो गया। साल बोरर के खत्म हो जाने के बाद भी बीमारी की आशंका का तर्क फैलाकर वर्ष 2001 तक जंगल काटने-कटवाने का सिलसिला जारी रहा। आदिवासी जानते हैं कि लगभग हर 35 साल के चक्र में साल के पेड़ों पर ही साल बोरर का आक्रमण होता है। इसलिये जरूरी है कि एकल प्रजाति के वनों (मोनो कल्चर) को बढ़ावा देने के बजाये जंगल में अलग-अलग विविधतापूर्ण प्रजाति के पेड़ों को लगाया जाये। परन्तु पिछले 30 सालों में आर्थिक लाभ कमाने की नीति के तहत वन विभाग साल और सागौन को अनियोजित ढंग से एकल प्रजाति पद्धति के तहत बढ़ावा देता रहा जिसका परिणाम 1990 के दशक में दिखा, जब साल बोरर के आक्रमण के कारण जंगल के जंगल खत्म हुये क्योंकि वहां साल के अलावा कुछ और ज्यादा था नहीं।

कन्हारी गांव के रायसिंह गोंड ने बताया कि 1980 के दशक के शुरुआती सालों में जब वन विभाग पेड़ कटवा रहा था तब हम यह नहीं सोच सकते थे कि जंगल कभी खत्म भी हो सकता है। परन्तु 1980-82 और 1998-2001 में यह लगने लगा कि वास्तव में जंगल तो खत्म हो रहा है। ये दो ऐसे दौर हैं जब हमने महसूस किया कि जंगल के बिना हमारा जीवन संभव नहीं है। हमें भूखे पेट सोना पड़ा। भुखमरी जैसी स्थितियाँ पैदा हुईं। बच्चों में कमजोरी (कुपोषण) पैदा हुई। यह सब जंगलों के विनाश का नतीजा था। फूलवती बाई कहती हैं कि जंगल का मतलब केवल लकड़ी नहीं है, इससे तो जीवन चलता है। हमारे लिये जंगल बचाने का आंदोलन वास्तव में

अपने धर्म, आस्था और संस्कृति के साथ-साथ आदिवासी अस्मिता को बचाने का आंदोलन है। बरगद के पेड़ में बारमदेव का वास है, पीपल के पेड़ में ईश्वर है, अचार के पेड़ की डाल से शादी का मड़वा बनता है, दुमार के पेड़ को जलाने से खटमल पैदा होते हैं इसलिये जलाते नहीं हैं; पकरी के पेड़ से फल और भाजी मिलती है, कटोरी के पेड़ से बैलों की जुंवाड़ी बनती है। जंगल से हमें 10 तरह के कंद मिलते हैं जो हमारे भोजन का अहम हिस्सा हैं। ऐसे में जंगल का खत्म करने की बात आदिवासी सोच भी नहीं सकता है। इंद्राबाई गोंड कहती हैं किफिर भी पिछले 15 वर्षों में जंगल लगभग खत्म होने की कगार पर पहुंच गया है। अपने एक हजार एकड़ के उस जंगल (भालूमुड़ा, जामवाला, चकियाकोना और चूहीखदान) को बचाने के लिये हम 18 परिवारों को अपना जीवन ही दांव पर लगाना पड़ा। हमारे पास दांव पर लगाने के लिए जीवन के अलावा कुछ बचा ही नहीं था।

और शुरू हुई जंगल जीवन की लड़ाई

बैगाचक इलाके में दरख्त-दर-दरख्त एक संदेश लिखा हुआ मिल जाता है, “वन विभाग से जंगल को बचाना है, जंगल को वन विभाग से बचाओ, जिंदा पेड़ मत काटो, जंगल ही जीवन है।” दुनिया में भारत, खासतौर पर मध्यक्षेत्र के आदिवासी समाज की दास्तान को हमारे सामने लाने वाले मानवशास्त्री वारियर एल्विन ने लिखा था कि यहां स्थानीय अफसरशाही की तानाशाही बहुत प्रबल है। 10 वर्षों से यहां सघन रूप से कार्य कर रहे बलवंत कहते हैं कि 1980 के दशक में वनों से अतिक्रमण हटाने के नाम पर बैगाओं की खूब बेदखली की गई और सदियों से जंगल में रह रहे आदिवासियों को 50-60 साल की सरकारों ने दो साल में कानून बनाकर अतिक्रमणकारी घोषित कर दिया।

एक सामूहिक चर्चा में लोग बताते हैं कि वर्ष 2001 तक इन बैगा परिवारों में रोजी और रोटी का संकट गहरा गया था। उन्होंने महसूस किया कि आर्थिक लाभ के लिये वन विभाग उन्हीं से जंगल कटवा रहा है और उन्हें ही कानून के तहत अपराधी भी ठहरा रहा है। वे कहते हैं कि, ‘हमारे मन में एक बात अटक गई थी कि यह जंगल तो सरकार का है, वही इसे बचाये। हम तब इसे जीवन की जरूरतों के साथ तो जोड़कर देख रहे थे पर अपने हकों के साथ नहीं जोड़ पा रहे थे। लगातार बातचीत, विचार-विमर्श और बहस की प्रक्रिया से हमने यह समझा कि यदि हम वन विभाग को जंगल का मालिक मानते हैं तब तो यह पूरा पर्यावरण खत्म हो जायेगा। उनके लिये तो जंगल केवल कमाई का साधन मात्र है पर हमारे लिये तो यह जीवन है। जंगल कटने के कारण ढाबा और कोठिया टोला की जमीन की नमी खत्म होने लगी और हमारी खेती कम हो गई। खासतौर पर धान पैदा होना तो लगभग बंद हो गया। तीन सालों तक घर की जरूरत भी खेती से पूरी नहीं हो पाई। वर्ष 2002-03 में यहां के दोनों कुओं में पानी खत्म हो गया। हमारे गांव में पहली बार पानी का

इतना बड़ा संकट आया। हमें बहुत महीनों तक डेढ़ किलोमीटर दूर ढगोना झरने तक पानी लेने जाना पड़ा। यह महिलाओं के लिये बेहद तकलीफदेह स्थिति थी। गर्म हवायें चलने लगी, वातावरण में ठण्डक खत्म होने लगी। ऐसे में हम जिन्दा कैसे रहते?’

करंजिया, समनापुर और बजाग विकासखण्डों में बैगाचक के 52 गांव फैले हुये हैं। यहां की भौगोलिक-पर्यावरणीय स्थिति ऐसी है कि जैसे-जैसे हम भीतरी गांवों में प्रवेश करते हैं वैसे-वैसे तापमान कम होता जाता है। चाड़ा गांव और उसके आसपास तो गर्मी में भी रातों में कंबल ओढ़ना पड़ता था। डिण्डोरी जिला मुख्यालय की तुलना में यहां का तापमान 4 डिग्री से. कम रहता था। इसमें व्यापक स्तर पर बड़े बदलाव आये हैं। इसी पृष्ठभूमि के तहत वर्ष 2001-02 में 12 गांवों के आदिवासियों ने जंगल बचाने के विचार को हकीकत में बदलने का जतन किया और 3200 हेक्टेयर की वनस्पतियों, वृक्षों और झाड़ियों का संरक्षण किया। मनियारो बाई बैगा के मुताबिक तब स्थिति यह थी कि जंगल में हो रही कमी के कारण लाख, अचार (चिरौंजी) तेंदू पत्ते और फल, मुसली और कांदे कभी-कभी ही मिल पाते थे, वह भी बहुत कम। जब जंगल बचाना शुरू किया तो तीन-चार सालों में ही स्थिति बदलने लगी। फिर भी वन विभाग इन्हें ही अपराधी-अतिक्रमणकारी घोषित करने की कोशिश करता रहता है। वे तो सालों से देख रहे हैं कि कूप कटाई (नियमित समय पर निर्धारित आयु/आकार को वृक्षों की कटाई) के नाम पर वन विभाग छोटे-छोटे और कच्चे पेड़ों को भी काटता रहा है।

वर्ष 2004 में कोठिया टोला के पास के भालूमुड़ा गांव के जंगल में ऐसे ही 4000 पेड़ों की कटाई के लिये निशान लगाये गये थे। उन पेड़ों को काटने के लिए 25 किलोमीटर दूर के गांव रजनीसराई से आदिवासी मजदूर लाये गये। यह एक कूटनीति है जिसमें वन विभाग एक गांव के मजदूरों को दूर के गांवों के जंगल काटने के लिये ले जाता है ताकि विरोध के आसार न रहें। आदिवासी संगठन की पहल पर राजस्व अधिकारियों को कटाई की इस प्रक्रिया को रोकना पड़ा और केवल 200 पेड़ ही कट पाये। इसके बाद वर्ष 2007 में पुनः 3000 पेड़ों की कूप कटाई के लिये निशानदेही की गई। आदिवासी संगठन ने फिर विरोध किया। इस बार कुछ ही पेड़ कट पाये। इस दौरान बार-बार वन विभाग और समुदाय के बीच टकराव होता रहा। कोठिया टोला के आदिवासियों का कहना था “वन विभाग के विनाशकारी कामों को हम आगे नहीं बढ़ने देंगे। हर साल वे कोशिश करते हैं पर हम हर साल ज्यादा ताकत से उन्हें रोकते हैं।”

गांव-समाज ने बनाया अपना वन कानून

वनों की सफाई में कुल्हाड़ी तो आदिवासी के हाथ रही परन्तु उस पर नियंत्रण अफसरशाही के हाथ में रहा। कोठिया टोला के शंकर सिंह बताते हैं कि ये

गांवों-जंगलों से दूर बैठकर कानून के धागों से हमें कठपुतलियों की तरह नचाते रहे। जब हमने चकियाकोना जंगल को बचाने का निश्चय किया था तब कुछ नियम-कायदे बनाये थे। यह कानून गांव के समाज ने दुनिया के हित में बनाया था। इस कानून की पहली धारा यह है कि आदिवासी समुदाय कभी भी इस जंगल के कच्चे और जिंदा पेड़ नहीं काटेगा क्योंकि उनमें जीवन है। यह हमारी श्रद्धा का केन्द्र भी है।

दूसरी धारा है कि जंगल में न तो आग लगायेंगे और न ही लगाने देंगे। गौरतलब है कि गर्मी के मौसम में बैगाचक में हजारों एकड़ जंगल में आग लगती है। अब से तीन दशक पहले वन विभाग ने ही जंगल में आग लगाने की परम्परा शुरू की थी। उल्लेखनीय है कि सरकार की रुचि सागौन के वनों की एकल संस्कृति (मोनोकल्चर) स्थापित करने में रही और सागौन के वृक्ष से बीज तब तक नहीं निकलते हैं जब तक कि उसे जलाया न जाये। इसलिये सागौन के बीज हासिल कर उनके अंकुरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये जंगल में आग लगाये जाने की प्रक्रिया शुरू हुई। इसके साथ ही डिण्डोरी के इन इलाकों में साल के पेड़ों को भी खूब बढ़ाया गया। साल के बीज एक नाजुक फूलनुमा संरचना के होते हैं और पतझड़ के दौरान झड़कर गिरते हैं। इसी समय यानी पतझड़ के कारण साल के सूखे पत्तों की जमीन पर एक मोटी परत बिछ जाती है जिससे साल के बीज जमीन तक नहीं पहुंच पाते हैं। यदि पहुंच भी जाते हैं तो सड़-गल कर खत्म हो जाते हैं।

ऐसी स्थिति में साल के बीज गिरने से पहले जंगल में बिछी सूखे पत्तों की परत को हटाने के लिये आग लगाई जाती है जो अब अनियंत्रित होती जा रही है। गांव समाज के लोग भी दो कारणों से इसमें शामिल हो गये हैं।

गांव के कुछ प्रभावशाली परिवार जंगल के जानवरों जैसे- जंगली सुअर या खरगोश के शिकार के लिये भी कभी-कभी आग लगाने लगे हैं। कई बार बीड़ी पीने के बाद अधबुझे टुकड़ों से भी आग लगते देखा गया है। यही कारण है कि वन संरक्षण आंदोलनकारी समाज ने तय किया कि अब न तो वे शिकार के लिये किसी को आग लगाने देंगे न ही जंगल में बीड़ी पीने की अनुमति होगी। सरकार को भी अब किसी भी कारण से आग लगाने नहीं दिया जायेगा। चपवार गांव के बसोरी सिंह मरावी कहते हैं कि जंगल में आग लगने से जमीन की नमी खत्म हो जाती है। जंगलों से हमें जो कंद, जड़ीबूटी मिलती थी उनमें खूब कमी आई है। इतना ही नहीं, कई तरह के कीट, सांप और पक्षी, जो जंगल के जीवन में संतुलन लाते थे, वे भी इन अग्निकाण्डों के कारण लगभग खत्म होने की कगार पर आ गये हैं।

तीसरी धारा में जंगल में कुल्हाड़ी ले जाने पर रोक लगाई गई। रामबाई कहती हैं कि पहले जानवरों को चराने जाते समय बच्चे सुरक्षा के लिये कुल्हाड़ी साथ लेकर जाते थे; परन्तु खेल-खेल में छोटे पौधे काट देते थे या खड़े पेड़ों पर कुल्हाड़ी चला

देते थे, इससे भी नुकसान होता था। हमने तय किया है कि अब जंगल जाते समय सब कुल्हाड़ी के बजाये डण्डे लेकर जायेंगे। यह आत्मस्वीकार्य नियम है।

चौथी धारा कहती है कि लघु वनोपज के लिये पेड़ों को मूल तने से नहीं काटा जायेगा। एक समय था जब चिरौंजी, तेंदूफल या आंवलों के लिये पेड़ काट दिये जाते थे और ये उत्पाद हासिल किये जाते थे। यह भी नुकसान का बड़ा कारण रहा। दरअसल, बाहरी व्यापारी और बिचौलिये लकड़ी के ठेकेदारों के साथ मिलकर आदिवासियों को लालच दिखाकर पेड़ कटवाते रहे। शंकरसिंह बताते हैं कि इस तरह के पेड़ काटने पर आदिवासियों को क्या मिलता था— 40 या 50 रुपये, बस! पांचवीं धारा में कहा गया है कि हम अपने जंगल की किसी न किसी तरह से निगरानी करते रहेंगे। जब किसी काम से वहां से गुजरें तो जंगल में झांकर देखें कि कहीं कटाई तो नहीं हो रही या आग तो नहीं लगी है। न भी गुजरें तो निगरानी करने के लिये ही वहां जायें और जंगल के हालचाल लें। निगरानी करते हुये वहां गोरगांव के दवान को पेड़ काटते हुये अक्टूबर 2008 में पकड़ा गया। इसी तरह वर्ष 2007 में कूप कटाई के लिये हो रही निशानदेही के बारे में भी पूरी जानकारी तभी मिली थी।

कूप कटाई या पेड़ों की नियमित कटाई के वन विभाग के सिद्धान्त से बैगा आदिवासी सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि यह एक व्यापारिक नजरिया है जिसके बेहद गंभीर परिणाम होंगे। फिलहाल तने का व्यास 120 सेंटीमीटर हो जाने पर उसे काट दिया जाता है। हालाँकि साल के वृक्ष की आयु 100 वर्ष तक होती है, 25 वर्ष की आयु में ही इसे काट दिया जाता है। इसके जवाब में वन विभाग के सलाहकार कहते हैं कि उसकी आयु तो 100 वर्ष की होती है परन्तु 35–40 वर्ष के बाद इसका तना खोखला होना शुरू हो जाता है और इसकी लकड़ी की कीमत बहुत कम हो जाती है।

वन विभाग के हर कोने से यही संकेत मिलता है कि जंगल में जो कुछ भी है उसे बाजार में ले जाया जाना चाहिये। इसके अलावा उसका कोई मूल्य नहीं है। ढाबा गांव के ग्रामीण एक सुर में कहते हैं कि वह पेड़ जिंदा रहता है तो उस पर पक्षी घोंसला बनाते हैं और इससे जंगल घना होता है। कूप कटाई का आधार ही बेतुका है। वे यह भी कहते हैं कि सरकार सागौन और नीलगिरी के खूब पेड़ लगवाती है क्योंकि ये पेड़ जंगल की नकद फसल हैं परन्तु इन पेड़ों पर पक्षी नहीं रहते और हरियाली भी नहीं होती है। हमें पेड़ लगाते समय यह भी सोचना चाहिये कि जंगल में पेड़ों के साथ-साथ पशु-पक्षियों को भी संरक्षण मिले। वे तो मानते हैं कि पेड़ों की तनों से कटाई को 100 सालों के लिये बंद कर दिया जाना चाहिये और इस दौरान केवल अपने आप सूख चुके पेड़ों और पेड़ों की बड़ी डगालों का ही उपयोग हो।

ज्ञान का सजग संसार हैं ये जंगल

नेशनल इंस्टीट्यूट फार विमेन यूथ एण्ड चाईल्ड डेवलपमेन्ट (एनआईडब्ल्यूसीवायडी) के सहयोग से चल रहे जंगल अध्ययन समूहों ने इस इलाके की जैव विविधता का सूक्ष्म सामाजिक-वैज्ञानिक अध्ययन किया है और लगातार कर रहे हैं। समूह का अध्ययन बताता है कि मैकाल पर्वत शृंखला के जंगलों के इस हिस्से में 61 तरह के पेड़ हैं। वे फरवरी-मार्च में पत्ते छोड़ते हैं और अप्रैल में यहां नये पत्ते दिखाई देने लगते हैं। यहां 69 तरह के पक्षी हैं जो प्रकृति के अलग-अलग चरणों के तहत प्रजनन करके व्यवस्था को आगे बढ़ाते हैं। इन युवाओं के समूह ने तमाम पेड़ों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व का भी दस्तावेजीकरण किया है। वे किसी बड़े शिक्षण संस्थान से निकले विद्वान् नहीं हैं, बैगा-गोंड परिवारों के किशोर और युवा हैं जो छह साल से मैकाल के जंगलों में पसरे ज्ञान को समेट कर दुनिया के सामने लाने का जतन कर रहे हैं। वे किसी प्रयोगशाला में नहीं बैठते। वे गांव-गांव जाते हैं, जंगल-जंगल घूमते हैं, दिन में देखते हैं, रात में देखते हैं फिर समेटते हैं अपने अवलोकन को। उनका अध्ययन बता रहा है कि बदलता पर्यावरण पूरी दुनिया का चेहरा बदल देगा।

यह तो कुदरत की सम्पत्ति है !

बैगाचक अपने आप में एक पूरी स्वतंत्र आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था रही है। यहां के आदिवासी यह मानते रहे हैं कि जमीन और जंगल किसी की व्यक्तिगत या पारिवारिक सम्पत्ति नहीं हो सकते हैं। यह तो प्रकृति की सम्पत्ति है। प्रकृति ही हमारे जीवन का संरक्षण करती है इसलिये जंगल और जमीन को हमें सहेज कर रखना चाहिये। बैगा समुदाय बेवर खेती की तकनीक का पालन करने वाला समुदाय रहा है। इसका मतलब यह है कि ये परिवार एक जमीन के टुकड़े पर एक वर्ष खेती करते हैं। दूसरे साल इसे खाली छोड़ देते हैं। दूसरे वर्ष दूसरे टुकड़े पर जाते हैं। अगले साल दूसरे टुकड़े को छोड़कर तीसरे टुकड़े पर जाते हैं। फिर एक निश्चित समयावधि के बाद पहले टुकड़े पर वापस आते हैं। जमीन पर निजी मालिकाना की मांग उनकी व्यवस्था में शामिल नहीं रही है। वैसे तो मूलतः बैगा जंगल के उत्पादों पर ही निर्भर रहे हैं परन्तु अब वे धान, कोदो-कुटकी, बैगानी राहर, उड़द की दाल की खेती करने लगे हैं। यही उनका खाद्यन्न का सुरक्षा चक्र है। बैगा समुदाय लगभग 10 तरह के कांदों (जमींकंद) का अपने भोजन की सामग्री के रूप में उपयोग करते रहे हैं। ये सभी जमींकंद अपने आप में पोषक तत्वों और सूक्ष्म पोषणीय तत्वों से भरे पूरे हैं। सैदूकांदा से न केवल पेट भर जाता था बल्कि ऊर्जा भी मिलती थी। यह अपने आपमें भरपूर भोजन हुआ करता था। जंगलों के विनाश के कारण इन कांदों का उत्पादन कम हुआ है। तिखुरकांदा, कनिहाकांदा, बिराड़कांदा, रबी कांदा, लोडंगीकांदा, ढुरसीकांदा, बैचांदी कांदा, कडुगीकांदा, लोडंगीकांदा सहित

सभी कांदे कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और ऊर्जा से लबरेज हैं। जंगलों के विनाश के कारण यहां का वातावरण जमीनकंदों के उत्पादन के अनुकूल नहीं रहा। जमीन में नमी की कमी, गर्मी में बढ़ोतरी, छांव और पानी में कमी के कारण कांदों का उत्पादन कम हुआ है।

बैगा विविध बीज व्यवस्था के तहत 56 किस्म के बीजों का उपयोग करते रहे हैं। इस प्रणाली के तहत अलग-अलग समय पर पकने वाली फसलों के साथ ही साथ अलग-अलग आकार के पेड़ों वाले बीज शामिल रहे हैं ताकि जब कोई एक किस्म की फसल पक जाये तो उसे आसानी से पहचान कर काटा जा सके और दूसरी फसल उसी भूखण्ड में पकने तक। बैगा मुख्यतः धान, राहर, उड़द, कोदो, कुटकी का उत्पादन करते रहे हैं। इनके भोजन में कुल 23 प्रकार की पत्तेदार भाजियां शामिल हैं। इनमें से चेंच, चकोड़ा और पकरी का उपयोग ज्यादा होता है। बारहों महीने ये भाजियाँ मिलती रही हैं परन्तु अब स्थिति बदल रही है। चेंच और चकोड़ा तो अब भी मिल जाती है पर इनकी मात्रा में बहुत कमी आई है। पकरी तो लगभग विलुप्त हो रही है। चरोटा की भाजी स्वास्थ्य और सेहत के दृष्टिकोण से बेहद उपयोगी रही है क्योंकि इसमें भरपूर कैल्शियम होता है। चरोटा को ये उबालने के बाद सुखा कर रख लेते हैं ताकि समय-समय पर इसका उपयोग किया जा सके। औषधीय गुणों के कारण बाजार में चरोटा के बीजों की खूब मांग होने लगी है। बाहर ज्यादा जाने की वजह से स्थानीय लोगों को यह नहीं मिल पाता है। शतावर और मूसली की भी यहां बहुतायत रही है। जब से बाजार में इनकी मांग बढ़ी है अनियोजित ढंग से इनका शोषण किया गया। पर्यावरण में बदलाव के कारण भी इनका उत्पादन कम हुआ जिससे घरों के पिछवाड़े पैदा होने वाली ये सामग्रियाँ आदिवासियों की पहुंच से बहुत दूर हो गईं। मूसली और शतावरी जैसी औषधीय सामग्रियों की कमी का महिलाओं के स्वास्थ्य पर गहरा नकारात्मक असर पड़ा है। गर्भावस्था के दौरान और प्रसव के बाद ताकत देने वाली यह औषधी अब महिलाओं को नहीं मिलती है। नतीजा है औरतों में बड़े पैमाने पर कमजोरी और एनिमिया।

प्रकृति खुद आदिवासियों के खाद्यान्न और भोजन उत्पादन की इस प्रक्रिया को अपनी सुरक्षा चक्र से संरक्षित करती रही है। एक तो घने जंगल होने के कारण जमीन की नमी खेती के लिये अच्छा माहौल बनाती है, ज्यादातर नदियां बारहों महीने बहती रही हैं। आदिवासियों ने इस प्रकृतिक सुरक्षा का पूरा मान सम्मान करते हुए रसायनों का इस्तेमाल बिल्कुल भी नहीं किया। इसकी जरूरत ही नहीं पड़ी। यहां सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता परमानंद यादव बताते हैं कि पशु पक्षी भी इस सुरक्षा चक्र में शामिल रहे हैं। मोढ़की सांप कई तरह के कीटों को खा जाते थे। जंगली चूहा खेत में बिल बनाकर रहता था जिससे मिट्टी की निंदाई-गुड़ाई हो जाती थी। अब ये बहुत कम हो गये हैं। तुमेली (मधुमक्खी नुमा एक कीड़ा) पेड़ों पर छत्ता बनाकर रहता था और फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले कीटों को खत्म

करता था। यह भी अब उतना दिखाई नहीं देता। कीटों को खाने वाली एक छोटी सी साल्हो चिड़िया और फसल को बीमारी से बचाने वाला जदुरा सांप भी लगभग खत्म हो गये। चपवार गांव के राम सिंह का अनुभव बोलता है कि इन सांपों, चिड़ियों और कीड़ों के खत्म होने से बैगानी राहर और उड़द की फसलों में ऐसे कीड़े लगने लगे हैं जो पहले नहीं लगते थे। वह कहते हैं कि पहले तो 16 जात का खाना खाते थे अब तो एक जात का भी पूरा नसीब नहीं होता है। औसतन 4 से 5 एकड़ के किसानों वाले इस गांव के सभी 72 परिवार धान की खेती करते रहे हैं पर पिछले चार सालों से लगातार यहां उत्पादन और उत्पादकता कम होती गई है। फूलसिंह बताते हैं कि एक एकड़ में हम लगभग 5 क्विंटल धान ले रहे थे। फिर उत्पादन चार क्विंटल पर आया, तीन क्विंटल हुआ और इस साल तो बीज के बराबर भी पैदावार नहीं हुई।

सेहत भी गई

यहां के समाज ने वर्ष 2004 में पौंडी गांव में हैजा (कोलेरा) के प्रकोप को देखा, जिसमें कुछ ही घंटों में 13 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई थी। फूलसिंह बताते हैं कि बुखार तो पहले भी आता रहा है पर हम अपनी जड़ी-बूटियों से उसका इलाज कर लेते थे परन्तु अब ठण्ड देकर जो बुखार आता है उस पर तो हमारी जड़ी-बूटियाँ (औषधीय वनस्पतियाँ-जड़ें) भी असर नहीं करती हैं। वे मलेरिया और वायरल बुखार की बात कर रहे हैं जो पिछले 5-6 सालों में तेजी से नये-नये रूप लेकर बढ़ रहा है। कोठिया टोला की रामबाई कहती हैं कि बच्चों में उल्टी-दस्त (डायरिया) की बीमारी भी बढ़ रही है। अब तो हर साल एक महीने गांव के सारे बच्चे इससे प्रभावित रहते हैं, मच्छर भी बढ़ रहे हैं। यहां जलग्रहण क्षेत्रों में तेजराज, भोगराज, कामराज, बड़ा सुखरा, हत्थाजोड़ी, अतिथि, तैलियाकंद, कालीहल्दी, काली भूलन, शतावर और मूसली जैसे औषधीय पौधे पाये जाते रहे हैं। सुक्कल सिंह कहते हैं कि यहां के समाज ने वर्ष 2004 में पौंडी गांव में हैजा (कोलेरा) के प्रकोप को देखा, जिसमें कुछ ही घंटों में 13 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई थी। सुक्कल सिंह जिनके पिता इस क्षेत्र के जाने-माने वैद्य रहे हैं) बताते हैं कि बैगा किसी समय में 61 प्रभावी औषधीय सामग्रियों को जानता और उपयोग करता रहा है किन्तु अब तो केवल 10-12 ही बची हैं जिससे कई बीमारियों का इलाज नहीं हो पा रहा है और हमें सरकारी अस्पतालों की दया पर निर्भर होना पड़ा है। महामारी तो अब भी इस इलाके में नहीं है पर जो संकेत मिल रहे हैं वे अच्छे नहीं हैं।

जंगल में चारों तरफ पेड़ों पर फैली हुई माहुलीबेला भी खत्म हो गई, जिसमें तमाम तरह के औषधीय पौधों का जीवन पनपता था। बदलते पर्यावरण ने न केवल आदिवासियों के सामने आजीविका, स्वास्थ्य और खाद्य असुरक्षा के संकट पैदा किये हैं बल्कि पर्यावरण के एक रचनात्मक केन्द्र को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित

किया है। बैगाचक और मैकाल पर्वत श्रेणियों का परस्पर समन्वय आधारित जीवन का इतिहास बताता है कि प्रकृति और मानव समाज का संयुक्त जीवन ही बेहतर व्यवस्था है और जब आप इसे प्रभावित करते हैं तो पहचान और अस्तित्व का संकट पैदा होता है। फिर आप इसे समाजशास्त्रीय संदर्भों में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याएँ कहकर पुकारने लगते हैं। विकास की हमारी प्रक्रिया ने प्रकृति की विशाल गोद में जी रहे समृद्ध, सम्पन्न, स्वस्थ, सजग, संयमी, सभ्य और संस्कारी बैगा समाज को 'पिछड़ी हुई आदिम जनजाति' की श्रेणी में खड़ा कर दिया है। ये उस आदिम जनजाति का हिस्सा तो हैं जिन्होंने जीने की कुदरती राह बनाई और दिखाई है पर पिछड़े नहीं हैं।



उल्लेख

इस पुस्तक को तैयार करने की एक प्रक्रिया रही है, जिसमें लोगों के साथ संवाद, अलग-अलग क्षेत्रों में घूमने और आंकड़े इकट्ठे करने की कोशिशें की गईं. इस प्रक्रिया में हमें संपर्क, आभार महिला समिति, परहित, भोजन का अधिकार अभियान, मध्यप्रदेश लोक संघर्ष साझा मंच, बुंदेलखंड आपदा निवारण मंच, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ विमेन, चाइल्ड एंड यूथ डेवेलपमेंट, स्पंदन ने मौके-मौके पर मदद की. व्यक्तियों के रूप में हिंदुस्तान टाइम्स के स्थानीय सम्पादक एन.के. सिंह, वरिष्ठ पत्रकार अरविन्द मोहन, राकेश दीवान, नव दुनिया के गिरीश उपाध्याय, देविंदर शर्मा, राकेश मालवीय, सीमा प्रकाश, निलेश देसाई के साथ हर्षमंदर, बिराज पटनाइक, कविता श्रीवास्तव, अरुंधती धुरु, प्रशांत दुबे, रोली शिवहरे, माहिम प्रताप सिंह का हमें सहयोग रहा है.



विकास मंवाद

ISBN No. 978-81-908302-5-6